यशपाल

# बीबी जी कहती हैं, मेरा चेहरा रोबीला है

1
B

H
813.31
Y26B

विप्लव प्रकाशन संख्या--३५

# बीबी जी कहती हैं, मेरा चेहरा रोबीला है

Bibiji kahti hai, mera chehra
Robila hai

यशपाल

Yashpal

(तृतीय संस्करण)

विप्लव कार्यालय, २१ शिवाजी मार्ग,
लखनऊ

नवम्बर १९६१

संशोधित मूल्य
६ रुपया

विप्लव कार्यालय
२१, शिवाजी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक :—
विप्लव कार्यालय
ल ख न ऊ

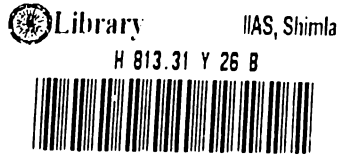


H
813.31
Y26B

पुस्तक के प्रकाशन और अनुवाद के सर्वाधिकार लेखक द्वारा स्वरक्षित हैं ।

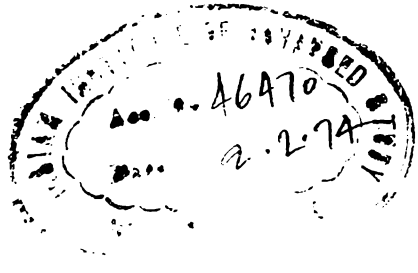


812/82

मुद्रक—
साथी प्रेस
ल ख न ऊ

समर्पण

—संत को,
जिसने कहा—
कहो,
सुनो,
गुनो,
धुनो,
बुनो,
पहन लो।

यशपाल

# क्रम


| | |
|---|---|
| १--बीबी जी कहती हैं, मेरा चेहरा रोबीला है | ९ |
| २--व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामूहिक स्वतन्त्रता | २९ |
| ३--फूलों की बैंहगी | ४९ |
| ४--ताशकंद लेखक मेला | ६३ |
| ५--अंगूरी की बोतल के मोल | ८५ |
| ६--अदृश्य बेड़ी | ९५ |
| ७--मेरी पचपनवीं वर्षगांठ | १०८ |

# १

## बीबी जी कहती हैं, मेरा चेहरा रोबीला है

संध्या का अँधेरा उतर आया था। कमरे में बिजली जला ली थी। हम तीन-चार आदमी कहानी और नाटक के क्षेत्र और विधि के सम्बन्ध में तुलनात्मक चर्चा कर रहे थे। बाहर सड़क पर बिजली के तारों में कुछ गड़-बड़ हो जाने के कारण 'पोल फ्यूज' हो गया। मकान में अँधेरा छा गया। चर्चा केवल बातचीत में ही चल रही थी। उस में देखने-दिखाने की अथवा हाथ की सहायता की जरूरत नहीं थी। फिर भी अटकाव आने लगा, बातचीत उखड़ने लगी। अनुभव हुआ, बातचीत के समय शब्दों से जितना कुछ अभि-प्राय प्रकट कर पाते हैं, उस में हमारे चेहरे की रूप-रेखा और भाव-भंगिमा का भी सहयोग अवश्य रहता है।

बिजली के तारों में शायद काफी गड़बड़ हो गई थी इसलिये बहुत देर देर तक प्रकाश नहीं आ सका। अब चर्चा में रस न आ सकने के कारण बातचीत करने वाले सज्जन उठ कर चले गये थे। मैं प्रकाश के दूसरे उपायों को खोज रहा था। अनुमान से मेज़ की दराजों और कनास पर मोमबत्ती के टुकड़े खोजते हुए ख्याल आया, शायद इसीलिये पत्रों के सम्पादक लेखक से कहानी या लेख के लिये अनुरोध करते हैं तो एक चित्र भी भेज देने के लिये लिखना नहीं भूलते।

जब भी पत्रों के लिये अपना फोटो भेजने का तकाज़ा आता है, इस विषय पर बीबी जी से यानि अपनी श्रीमती जी कुछ न कुछ चख-चख हो ही जाती है। अपना फोटो किसी को देने या दिखाने में मुझे उत्साह नहीं होता परन्तु मेरा चित्र अखबारों या पत्र-पत्रिकाओं में छपा देखकर श्रीमती जी को बहुत उत्साह अनुभव होता हैं। मुझे भरोसा है कि मैं अपनी बात सन्तोषजनक

ढंग से कह या लिख सकता हूँ। अपने चेहरे के प्रभाव के विषय में वैसा कोई भरोसा नहीं हो सका। श्रीमती जी के अतिरिक्त अपने चेहरे के सम्बन्ध में अन्य लोगों से जो बेलाग सम्मतियाँ सुनने का अवसर मिला है, उन से श्रीमती जी की अपेक्षा मेरी अपनी राय का ही अनुमोदन हुआ है। इस पर भी बीबी जी का आग्रह है कि मेरा चेहरा रोबीला है।

पत्र-पत्रिकाओं में मेरे चित्र कई बार छप चुके हैं परन्तु उस के लिये श्रेय अथवा उत्तरदायित्व मेरा नहीं, 'कान्तीचन्द्र सौनरिक्सा' जो अब राजकीय सेवा में उत्तर-प्रदेश के किसी जिले के डिप्टी-कलक्टर बन गये हैं, एक समय मुझ या अन्य लेखकों जैसे साधारण व्यक्ति ही थे। उन दिनों वे फोटोग्राफी का भी काफी शौक रखते थे। उन्हों ने पत्रों में मेरे चित्र की आवश्यकता का अनुमान करके मेरे कुछ फोटो ले लिये थे। उन में दो-तीन फोटो की प्रूफ कापियाँ भेज कर पूछा था कि मुझे जो मुद्रा पसन्द आये उस की अच्छी कापी बना कर भेज सकते हैं। मुझे अपनी उन तस्वीरों से कोई उत्साह नहीं हुआ था। किसी फोटो में मेरे चेहरे पर निराशामय क्रोध दिखाई देता था तो दूसरे में ऐसा जान पड़ता था कि मेरे सामने खिड़की की राह पत्थर आ पड़ा हो और मैं चौंक गया होऊँ। कहानी या लेख का, लेखक के चित्र से प्रभावशाली बना सकने की धारणा में विश्वास रखने वाले सम्पादक मेरे उन्हीं चित्रों से मेरी कहानी और लेखों को विभूषित करते आ रहे हैं।

अपने चेहरे के सम्बन्ध में स्वयं मेरी सम्मति भी सदा एक सी ही रहती हो यह मैं नहीं कह सकता। कभी-कभी तो जान पड़ता है कि सड़क-बाजार में, चलती भीड़ में जैसे साधारणतयः दूसरे अधिकांश लोग हैं, उन में मैं भी खप सकता हूँ परन्तु काफी बड़े-बड़े आइने लगी पान की दुकानों के सामने से गुजरते समय यदि आँख उस ओर चली जाये तो आँख हटा कर बच कर निकल जाने की ही इच्छा होती है। इस पर भी बीबी जी से यही सुनना पड़ता है कि मेरा चेहरा रोबीला है।

अपने चेहरे के रोब के सम्बन्ध में, किसी संभव भ्रम का निराकरण कर देने के लिये, एक कभी न भूल सकने वाली घटना हो चुकी है।

सन १९४१' गर्मी का मौसम था। अंग्रेजी सरकार ने 'विप्लव' मासिक से अभी जमानत माँग कर उसे बन्द नहीं करा दिया था इसलिये काम काफी रहता था। नित्य बहुत सी डाक लिखने और उसे समय पर डाकखाने पहुंचाने

का भी काफी काम रहता था। डाक आर० एम० एस० (स्टेशन के डाकखाने) में पहुंचायी जाती थी। कार्यालय में श्रीमती जी और मैं, बस दो ही आदमी थे इसलिये डाक तैयार करने में विलम्ब हो जाता था। करीब आठ, साढ़े-आठ बज जाते थे। उन दिनों घर और दफ्तर में सहायक कर्मचारी या चपरासी के रूप में एक व्यक्ति और भी था—उम्मेदसिंह।

उम्मेदसिंह जैसा चुस्त, चतुर और व्यवहार-कुशल नौजवान था वैसा ही देखने में भी-सुस्वरूप और भव्य। गोरा रंग, काले घुंघराले बाल और इकहरा वदन। चेहरा देखने से विश्वास होता था। उसे ढंग से कपड़े पहनने का शौक भी था। हुसैनगंज में 'लन्दन हेयर कटिंग सेलून' में बाल कटवाता था। एक सस्ता सा सेफ्टीरेज़र भी उसने ले लिया था। वह अपने घुंघराले बालों पर ढंग से कंघी करके, खादी की खूब सफेद इस्त्री की हुई नोकदार गांधी टोपी पहन लेता तो किसी रजवाड़े का राजकुमार जंचता था। यह अभिप्राय नहीं है कि बड़े-बड़े तालुकेदारों और रजवाड़ों की सन्तानें सदा सुस्वरूप ही होती हैं। मैंने अधिकांश में उल्टा पाया है। उन्हें अपने सेवकों की अपेक्षा काला कुरूप ही देखा है परन्तु कहानियों में राजपुत्र के सुस्वरूप होने की मान्यता चली आ रही है इसलिये उम्मेदसिंह के चेहरे की तुलना में राजकुमार का उल्लेख कर दिया है।

हाँ, उम्मेदसिंह के चातुर्य और व्यवहार-कुशलता के कारण डाक देर से भेजने पर भी कभी परेशानी नहीं होती थी। कभी उसे डाक ले जाने में बहुत अधिक विलम्ब हो जाता तो उस के लौटने पर सहानुभूति से पूछ लेता—"आज तो बाबू जरूर बिगड़ा होगा। तुम बहुत लेट हो गये थे।"

उम्मेदसिंह उपेक्षा से गर्दन झटका देता—"अजी क्या मजाल है उस की, वहां सब लोग अपने दोस्त हो गये हैं।"

उम्मेदसिंह के इस गर्व में कुछ अतिश्योक्ति जान पड़ती थी। एक दिन अपनी आँखों स्थिति देख सकने का भी अवसर आ गया। उस संध्या लखनऊ स्टेशन से गुजरते किसी मित्र से मिलने के लिये मुझे भी स्टेशन जाना था। उम्मेदसिंह को डाक आर० एम० एस० में ले जाने के लिये देकर कपड़े बदले और स्टेशन गया।

गाड़ी के आने में अभी पाँच-सात मिनट शेष थे। प्लेटफार्म पर चहल-कदमी करने लगा। आर० एम० एस० के सामने से गुजरा तो नज़र खिड़की से भीतर चली गई। उम्मेदसिंह पोस्ट मास्टर बाबू के सामने मेज की दूसरी

ओर कुर्सी पर बैठा था। वह माचिस जलाकर बाएं हाथ में थमी दो बीड़ियों को एक साथ सुलगा रहा था। मैं खड़ा देखता रहा। उम्मेदसिंह बीड़ी सुलगा कर आत्मीयता से मुस्कराया। एक बीड़ी बाबू की ओर बढ़ा दी। दोनों ने कश खींच कर धुआं छोड़ा। दोनों में निस्संकोच हँसी-दिल्लगी चल रही थी।

एक दिन उम्मेदसिंह की तबियत खराब थी। साधारण कष्ट में तो वह चारपाई पर लेटता न था। उस दिन उसे काफी ज्वर था। उस के चारपाई पर पड़ जाने के कारण 'विप्लव' के पार्सल भी श्रीमती जी और मुझे ही बाँधने पड़े। पार्सल बांधने के लिये जमीन पर बैठना पड़ा इसलिये पतलून में घुटने निकल आये थे। खूब सुबह ही काम में लग गया था। हजामत और स्नान के लिये भी अवसर नहीं मिला था। डाक का समय हो जाने के कारण यही उचित था कि काम समाप्त करके ही हजामत और स्नान की बात सोचता।

मैंने डाक साइकिल के पीछे बाँध ली और स्टेशन पहुंचा। परिचय न होने के कारण डाकखाने के भीतर जहाँ उम्मेदसिंह को कुर्सी पर बैठे देखा था, भीतर नहीं गया। सब डाकखानों के दरवाजों पर टीन के लाल रंगे टुकड़ों पर सफेद अक्षरों में चेतावनी लिखी रहती है---भीतर आने की इजाजत नहीं है। मैंने कायदे से खिड़की के सामने खड़े होकर डाक बाबू को पुकारा--"विप्लव की डाक लाया हूं।"

विलम्ब हो ही चुका था। बाबू साहब ने भवें चढ़ाकर, हाकिमाना-अन्दाज से मेरी ओर देखा और पूछ लिया—"डाक लाने का यह वक्त है ?"

"साहब, आज देर हो गई।" विनय से कहा।

"आज क्या देर हो गई, तुम्हारी डाक हमेशा इसी तरह आती है। आज लिये लेते हैं। अपने साहब से कह देना, आइन्दा डाक देर से आयेगी तो नहीं ली जायेगी।"

मजबूरी में स्वीकार किया- "बहुत अच्छा साहब, साहब से कह दूंगा।"

डाक लेते हुये बाबू ने फिर प्रश्न किया--"तुम्हारी डाक लेकर जो पहाड़ी आता था आज क्यों नहीं आया ?"

"आज उस की तबियत खराब है। बुखार आ गया है।" उत्तर दिया।

"बुखार आ गया है" बाबू साहब ने चिन्ता प्रकट की, "पहाड़ी को हमारी जैरामजी कहना।"

मकान पर लौट कर डाकखाने का यह अनुभव बीबी जी को सुनाया।

उन से पूछा कि मेरे चेहरे के रोब के विषय में अब उन की क्या राय थी ?

"वह ग़रा डाकिया क्या समझे ? उसे क्या तमीज है ?"

वीवी जी मुझे सान्त्वना देने के प्रयत्न से पीछे नहीं हटीं।

सम्पादक महानुभाव कहानी या लेख के साथ लेखक के चित्र के लिये भी आग्रह करते हैं। अभिप्राय स्पष्ट है कि लेखक की रचना पढ़ते समय पाठकों को स्वभाविक कौतूहल होता होगा कि लेखक का चेहरा कैसा है ? और उस पर भावों और विचारों की कैसी-कैसी प्रतिक्रियायें दिखाई देती हैं। अपना चेहरा तो कोई भी नहीं देख पाता और जाने क्या बात है कि आइने में अपना चेहरा प्रायः नित्य ही देखने पर भी मेरे ख्याल में ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति होगा जिसे अपने चेहरे की रूप-रेखा और अभिव्यक्ति हूबहू याद रह जाती हो। चेहरा तो दूसरे का ही याद रह सकता है, अपना नहीं।

ऐसा भी अनुभव है कि अनेक लोगों को अनेक चेहरे भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देते हैं या भिन्न-भिन्न प्रकार के जान पड़ते हैं। श्री कृष्णदास ने 'सरगम' में मुझ पर लेख लिखा था तो मेरे चेहरे का बखान इस प्रकार किया था --- 'प्रगति के जागरूक प्रहरी यशपाल के चेहरे पर गरीबी, दृढ़ता, अस्वस्थता और संघर्षशीलता के कारण जो गहरी रेखाएं पड़ गई हैं, संभवतः अमिट हैं।'

उतने ही प्रसिद्ध दूसरे लेखक देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'आजकल' में मेरा व्यक्तित्व दूसरे ही रूप में उपस्थित किया था --'शरीर लम्ब-तड़ंग है। उन्हें देख कर यह आशंका होती है कि किसी भी समय दलील के बजाय थप्पड़ से काम ले सकते हैं।'

उपेन्द्रनाथ अश्क भी प्रसिद्ध लेखक हैं। उन्हों ने 'प्रतीक' में मेरा परिचय यूं दिया था —'यशपाल का रंग साँवला है और कद मंझला। देखने में जैसे कोई बिगड़ा हुआ ईसाई अफसर।'

इन तीन प्रसिद्ध लेखकों की राय मेरे रूप या चेहरे के विषय में पृथक-पृथक है।

अपने चेहरे के सम्बन्ध में एक और भी घटना याद आ गई। सन् १९३०' की बात है—मैं फरार था। दिल्ली षड़यन्त्र केस में गिरफ्तार किये गये साथियों में से दो-तीन मुखबिर बन गये थे। उन लोगों ने अपनी जान बचाने के लिये दल के बहुत से रहस्य पुलिस और सरकार को बता दिये थे। यह भी बता दिया था कि वायसराय लार्ड इरविन की ट्रेन के नीचे, बम-विस्फोट करने के

लिये मुझे भेजा गया था और मैंने ही वह काम किया था इसलिये पुलिस मेरी गिरफ्तारी के लिये सिर तोड़ कोशिश कर रही थी। फरार व्यक्तियों की गिरफ्तारी के लिये बहुत बड़े-बड़े, लगभग २६ इंच चौड़े और १५ इंच लम्बे इश्तिहार रेलवे स्टेशनों, पुलिस स्टेशनों, कचहरियों और बाजारों में जगह-जगह पर लगा दिये गये थे। इन इश्तिहारों में फरार व्यक्तियों के चित्र भी थे। मेरा चित्र इश्तिहार के बीचोंबीच था। फरार व्यक्तियों के सम्बन्ध में पुलिस को सूचना देने के लिये हजारों रुपयों के इनामों की घोषणा थी। चन्द्रशेखर आज़ाद और मेरी गिरफ्तारी के लिये सब से बड़े इनाम थे। रेलवे स्टेशनों पर प्रतीक्षा में मुसाफिरों के बैठ सकने के लिये बैंच पड़े रहते हैं। उन बैंचों के ऊपर दीवार पर भी ऐसे इश्तिहार लगा दिये गये थे। एक बार नहीं अनेक बार--गाड़ी की प्रतीक्षा में उन इश्तिहारों के ही नीचे बैठ कर सिगरेट पीता रहता था। मेरे चेहरे का प्रभाव प्रकट होने का कोई अवसर नहीं आया।

एक अवसर पर यह आवश्यक हो गया था कि हम में से कोई आदमी पुलिस स्टेशन पर जाकर, अपने खोये हुये सामान को पाने का यत्न करे। उस पुलिस स्टेशन के फाटक पर भी हम लोगों की गिरफ्तारी की घोषणा के इश्तिहार लगे हुये थे। चन्द्रशेखर आज़ाद ने कहा--"तू खूब साहबी ढंग से बात कर लेता है पर अकेले नहीं जाना, मैं भी तेरे साथ मुंशी बन कर चलूंगा।" ऐसा ही किया और उस काम में सफलता भी मिल गई थी। सम्भवतः इस अनुमान से उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के द्वारा दिये गये मेरे परिचय का कुछ समर्थन हो जाय।

एक और भी बात याद है। सन् ३२' में गिरफ्तार हो चुका था। चौदह वर्ष के लिये कठोर कारावास की सजा पा चुका था। नैनी सेन्ट्रल जेल में था। मुझे योरुपियन बैरक में गोरे कैदियों के साथ रखा गया था। इस का कारण मैंने यह नहीं समझा था कि मैं योरुपियन लोगों की तरह रोबीला आदमी हूँ बल्कि यह कि गोरों से घिरे रहने के कारण मुझे जेल से भागने के लिये, षड़यंत्र कर सकने का कोई अवसर न रहे। अस्तु, एक दिन जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट मेजर हाजी सलामतउल्ला के साथ जेल का मुआइना करने के लिये कोई दूसरे बड़े अफसर आये थे। सुपरिन्टेण्डेण्ट इस अफसर को मेरी कोठरी के सामने भी ले आये थे। सुपरिन्टेण्डेण्ट ने आगन्तुक अफसर का परिचय दिया। वे मजिस्ट्रेट थे और उन का नाम आइनुद्दीन था। हाजी साहब ने यह भी याद

दिला दिया कि ये आइनुद्दीन साहब ही काकोरी षड़यन्त्र केस के ट्रायल मजिस्ट्रेट थे। इस के बाद उन्हों ने मजिस्ट्रेट साहब को मेरा परिचय दिया।

मजिस्ट्रेट साहब कई क्षण मुझे ध्यान से देखते रहे और फिर बोले--"क्या सचमुच ही आप वही यशपाल हैं जिन की बाबत इतनी बातें सुनी और अखबारों में पढ़ी हैं। मैं तो कुछ और ही कल्पना बाँधे था और उसी के कारण उत्सुकता से आया था कि पिंजरे में बन्द शेर को देखूंगा। बुरा न मानियेगा, मुझे निराशा हुई। आप तो बिलकुल मेमने की तरह निरीह, साधारण आदमी जान पड़ते हैं।"

गिरफ्तारी से पूर्व यानि फरारी के दिनों में दिल्ली, कानपुर आदि में कई बार नाम बदल कर, काँग्रेसी सज्जनों के घरों में शरण पा लेता था। उस समय पोशाक खद्दर का कुर्ता-धोती और गांधी टोपी रहती थी। उन दिनों क्रान्तिकारियों के कारनामे अभी ताजे थे। अंग्रेज़ सरकार ने कांग्रेस आन्दोलन का दमन कर सकने के लिये, कांग्रेस संस्था को गैरकानूनी करार दे दिया था। इस पर भी यदि कांग्रेस कोई प्रदर्शन करती थी तो उन पर खूब मार पड़ती थी। काँग्रेसी भाई कहा करते थे--अंग्रेज लातों के भूत हैं, बातों से नहीं मानेंगे। इन्हें तो क्रान्तिकारी ही ठीक करेंगे। भगतसिंह को फाँसी दी जा चुकी थी। आज़ाद और यशपाल का नाम बहुत मशहूर था। क्रान्तिकारियों के साहस और चातुर्य की चर्चा चलने पर सुनता—यशपाल के चेहरे पर गजब का रोब है। देख कर पुलिस वालों के हाथ-पाँव ढीले हो जाते हैं। अपने कानों यह सुनता था परन्तु कहने वालों पर यशपाल के चेहरे का कोई रोब पड़ता नहीं देखता था।

कुछ अवसरों पर मेरे रोब ने काम भी दिया है। एक दो वैसी घटनायें भी बता दूं।

फरारी के दिनों, मई १९३१' की बात है। कानपुर में ठीक दोपहर में पुलिस से सामना हो गया था। उस घटना का पूरा ब्योरा देने से बात बहुत लम्बी हो जायेगी। संक्षेप में बात ऐसी थी कि गोली चलानी पड़ गई। गोली चलाने के पहले हमें घेर लेने वाले पुलिस के सिपाहियों को समझाने की बहुत कोशिश की कि किसी तरह गोली चलाने की नौबत न आये पर वे नहीं माने। परिणाम यह हुआ कि तीन सिपाही घायल होकर सड़क पर गिर पड़े, दो भाग उठे। भागने वाले सिपाही दूर जाकर हम पर गोली चला रहे थे परन्तु वे

इतने घबड़ा गये थे कि निशाना ले ही नहीं सकते थे ।

कानपुर की इस घटना के एक मास बाद, घटना के समय भाग जाने वाले सिपाहियों में से एक आदमी से दिल्ली में, चावड़ी-बाजार की घनी भीड़ में संध्या समय सामना हो गया । परस्पर न पहचानने का तो कोई सवाल ही न था । हम दोनों एक ही फुटपाथ पर थे । मैं जामा-मस्जिद की ओर जा रहा था और वह जामा-मस्जिद की ओर से आ रहा था । संध्या समय भीड़ इतनी थी कि कन्धे से कन्धा लग रहा था । हम लोगों की आँखें चार हुईं तो दोनों के बीच का अन्तर, दो नहीं तो तीन हाथ का रहा होगा । सिपाही मुझे देखते ही ठिठक गया । वह कद में मुझ से बालिश्त भर ऊँचा, दोहरे बदन का अच्छा-खासा पहलवान था । यदि वह झपट कर मुझ से भिड़ जाता या 'पकड़ो-पकड़ो' ही चिल्ला देता तो मैं शायद ही बच कर भाग सकता ।

सिपाही इतने समीप से आँखें चार होते ही ठिठक कर कांप उठा था । यह देख मेरा हाथ तुरन्त कुरते के नीचे धोती के फेंटे में लगी पिस्तौल की मूंठ पर पहुँच गया । सिपाही पल भर के लिये बिल्कुल ही जड़ हो गया । भय से फैली आँखें निश्चल हो गईं । वहां बायीं ओर एक पतली सी गली थी । मैंने आँख से गली की ओर संकेत कर धीमे परन्तु कड़े स्वर में आदेश दिया—"चलो उधर, घूमकर मत देखना ।"

सिपाही यन्त्र-चालित की भाँति तेज कदमों से गली में चला गया । मेरी आँखें उसी ओर थीं । जब वह घूम कर देखे बिना, गली के मोड़ से अदृश्य हो गया तो मैं तेज कदमों से कुछ दूर भीड़ में आगे बढ़ कर एक खाली टांगे पर बैठ गया । इस अवसर पर निश्चय ही मेरा रोब काम दे गया था परन्तु वह रोब शायद मेरे चेहरे का नहीं सिपाही की स्मृति में जमी मेरी करतूत का ही रहा होगा ।

दूसरी घटना भी सुना दूं—२३ दिसम्बर १९२९' सूर्योदय से पूर्व दिल्ली निज़ामुद्दीन के समीप मैं और साथी भागराम वायसराय की ट्रेन के नीचे बम-विस्फोट करके लौट रहे थे । घटनास्थल से विलम्ब हो गया था । कारण था कि हमारी मोटर साइकिल के 'प्लग' में कुहरा जमकर पानी की बूंदें चली गई थीं और हम आधे घन्टे तक उसे चला सकने के व्यर्थ प्रयत्नों में उलझे रहे थे । मैं उस समय फौजी अफसर की पोशाक में था और भागराम मेरे अर्दली के रूप में । मोटर साइकिल का इंजन चालू न कर सकने के कारण हम दोनों

गाड़ी को धकेलते हुये पुराने किले से हार्डिंग पुल की ओर आ रहे थे। कुहरा इतना घना था कि सड़क पर चार-छः हाथ की दूर की चीज भी दिखलाई नहीं दे रही थी। आध-मील चल पाये होंगे कि सड़क पर बहुत से सिपाहियों के मार्च करते हुये, अपनी ओर चले आने की आहट मिली। अन्त समय आ गया था।

साथी भागराम से कहा--"अब इस मोटर साइकिल को स्टेन्ड पर खड़ी कर दो। सामना करने के लिये तैयार हो जाओ। तुम साइकिल की आड़ में बैठ कर गोली चलाना। पहले मैं ही गोली चलाऊँगा।" अपना भय छिपाने के लिये मैं साइकिल के सामने तन कर खड़ा हो गया। पिस्तौल ब्रिचिस की दांयीं जेब में थी। घने कुहरे और धुन्ध में सिपाहियों की एक टुकड़ी मार्च करती हुई चली आती दिखाई दी। यही विचार था कि पहला निशाना न चूकूँ इसलिये सिपाहियों को समीप आने दिया। पिस्तौल की अटक हटा कर जेब से निकाल ही रहा था कि टुकड़ी के आगे चलते सजन्ट ने मुझे देख कर आर्डर दे दिया। शब्द ठीक से नहीं समझा पर ध्वनि समझ ली, सेल्यूट का आर्डर था।

यह कहना व्यर्थ दम्भ होगा कि मेरा कलेजा धड़क नहीं रहा था। मनुष्य का दिमाग होने पर भी भय को न समझना कैसे सम्भव होता परन्तु भय से भागने का विचार नहीं, सामना करने का ही दृढ़ निश्चय था। भय था परन्तु औसान भी कायम थे। पिस्तौल को जेब में ही रहने दिया और जेब से हाथ खींच कर सिपाहियों की सेल्यूट स्वीकार कर ली।

फौजी टुकड़ी घटनास्थल की ओर बढ़ गई। उन्हों ने शायद मुझे अपने से पहले पहुँचा अफसर अनुमान कर लिया था। इस अवसर पर रोब काम आया परन्तु वह रोब मेरे शरीर को ढंके वर्दी का ही था। धुंधले कुहासे में मेरा चेहरा तो किसी को क्या नजर आया होगा ?

साथी भागराम के साथ मिल कर साइकिल को दिल्ली तक जैसे-तैसे पहुंचाया और उसी पोशाक में स्टेशन पर पहुँचा। वायसराय की ट्रेन के नीचे विस्फोट हो जाने के कारण स्टेशन पुलिस और सी० आई० डी० से खचाखच भरा हुआ था। उसी अवस्था में टिकट खरीदे और देहली से रवाना हो गये।

कह चुका हूँ कि फरारी के दिनों में स्वयं अपने ही कानों यशपाल से मिलने और उस के चेहरे से प्रभावित हो जाने की कहानियाँ भी सुना करता था। उन्हें सुन लेने के सिवाय और क्या कर सकता था परन्तु उन दिनों भी अपने चेहरे

की ख्याति और महत्ता के विकास में बहुत भरोसा नहीं हो सका।

सन् १९३१' की बात है। भाई आज़ाद इलाहाबाद के एलफ्रेड-पार्क में वीरगति प्राप्त कर चुके थे। उन के बाद संगठन का कार्य मेरे ही कन्धों पर था। साथियों को प्रायः ही मुझ से मिलने की जरूरत होती थी। एक प्रमुख साथी श्री सुरेन्द्र पांडे कानपुर केन्द्र के थे। मैं प्रायः देहली, मेरठ, देहरादून की तरफ रहता था। पांडे जी परामर्श के लिये मिलने की आवश्यकता होने पर मुझे कानपुर आने का सन्देश भेज देते थे। एक बार उन से निवेदन किया कि पुलिस मेरी गिरफ्तारी के लिये बहुत यत्न में है। सभी स्थानों पर मेरे चित्र-सहित इनाम की घोषणा के इश्तिहार लगे हैं। यह सब संकट तुम्हारे लिये नहीं है। क्यों न तुम ही मुझ से आकर मिल लिया करो।

मेरी आशंका सुन कर पांडे जी ने धैर्य से समझाया कि उन का सब जगह घूमते-फिरना शंकास्पद होगा क्योंकि वे तो चेहरे से ही फिलास्फर और क्रान्तिकारी जान पड़ते थे। मेरे चेहरे पर ऐसे लक्षण नहीं थे इसलिये मैं बिना ध्यान आकर्षित किये सब कहीं आ-जा सकता था।

पांडे जी के इस तर्क का प्रतिवाद नहीं कर सका। वे भी जानते थे कि १९२९' में रोहतक में बम के मसाले का कारखाना चलाते समय मुझे कई मास तक वैद्य लेखराम की दूकान पर पानी भरने वाले और दवा कूटने वाले नौकर के रूप में रहना पड़ा था। उन दिनों मेरे रूप-व्यवहार में और मेरी स्थिति और काम में किसी को असामंजस्य नहीं जान पड़ा था। मेरा चेहरा क्या इतना बदल गया होगा ?

अपने चेहरे के विषय में इस से भी अधिक परस्पर-विरोधी सम्मतियाँ सुनने के अवसर आये हैं। ऊपर जिन घटनाओं और अनुभवों का उल्लेख किया है उन में शायद साहस और वीरता की ख्याति का प्रभाव पड़ जाने का अवसर था। स्पष्ट है कि उन घटनाओं और अनुभवों का सीधा-सीधा या व्यंजनात्मक सम्बन्ध जवानी के मेरे क्रान्तिकारी कार्यों से ही था। वे बातें अब पुरानी हो चुकी हैं। सन् ३८' में जेल से छूटने के बाद से मेरा कार्यक्षेत्र और रहन-सहन का ढंग भी बदल गया है।

मैंने राजनैतिक चर्चा और विवेचना के लिये भी काफी लिखा है परन्तु मेरी रचनाओं में अधिक संख्या कहानियों और उपन्यासों की है। अब लोग मुझे क्रान्तिकारी के रूप में बहुत कम जानते हैं। जो जानते हैं, वे मुझे छोटा-मोटा

'साहित्यिक' या 'कलाकार' समझते हैं। ऐसे लोग भी मेरे चेहरे पर कला और प्रतिभा का प्रकाश देख पाने की आशा करते हैं। खेद है, ऐसे लोगों को काफी निराशा होती है। वे मेरे चेहरे, वेश-भूषा और भाव-मुद्रा में कलाकार की कोई विशेषता नहीं देख पाते। उन की मैं कोई सहायता नहीं कर सकता। उन के प्रति केवल समवेदना ही प्रकट कर सकता हूं।

कुछ वर्ष पूर्व की बात है। मेरे एक पाठक जिन से बहुत घनिष्टता हो चुकी थी, सपत्नीक लखनऊ आये थे और हमारे यहाँ हो रहे थे। सामना होने पर इन की पत्नी के चेहरे पर विचित्र सी उलझन और निराशा प्रकट हो आती थी। तीन-चार दिन बाद इन मित्र की पत्नी का संकोच कम हो गया तो बोलीं – "मैंने आप की सभी पुस्तकें पढ़ी हैं। 'इन के' साथ लखनऊ आने का एक प्रयोजन यह भी था कि आप के दर्शनों की प्रबल इच्छा थी परन्तु जैसी कल्पना थी वैसा कुछ भी दिखलायी नहीं दिया।"

मित्र की पत्नी की निराशा का कारण पूछने पर उत्तर मिला कि कलाकार के दर्शनों में जैसी भव्यता और कोमलता की आशा की जाती है वैसी उन्हें नहीं मिली। उन्हें आशा थी कि जिस व्यक्ति की कला से इतना संतोष मिला था वह देखने योग्य भी होगा। गम्भीर समुद्र की तरह स्थिर, विचारों के बोझ से दबा, बहुत बार पूछने पर कोमल स्वर में थोड़ा-सा उत्तर देगा। उस की वेष-भूषा साधारण कारोबारी लोगों से भिन्न अनोखी होगी। उस के चेहरे और लम्बे घुंघराले केशों में स्निग्धता और लावण्य होगा। ऐसा कुछ भी न पाकर उन्हें निराशा हुई। आखिर एक दिन वह निराशा उन्हों ने प्रकट कर ही दी– "जैसे और सौ-पचास लोग मिलते हैं, आप भी वैसे ही लगते हैं।"

ऐसे ही एक दूसरे अवसर पर साहित्यिक-रुचि रखने वाले लोग कलाकार के दर्शनों की आशा से इकट्ठे हुए थे और मेरे दर्शन से कुछ निराश ही हुये। सन ४७' दिसम्बर में आसाम के छात्र-संघ के अधिवेशन का उद्घाटन करने के लिये गोहाटी गया था। लौटते समय पार्वतीपुर स्टेशन पर खयाल आ गया कि लगते हाथ दार्जिलिंग भी देख लूं। दार्जिलिंग पहुँच कर याद आया कि दार्लिलिंग के एक पुराने क्रान्तिकारी बंगाली सज्जन सत्येन्द्र बाबू दो वर्ष पहले लखनऊ आये थे तो मेरा ही आतिथ्य स्वीकार किया था। काला पानी से लौटने के बाद सत्येन्द्र बाबू कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता बन गये थे। उन दिनों 'विप्लव' की २०–२१ प्रतियाँ प्रति मास दार्जिलिंग कम्युनिस्ट पार्टी के

पते पर जाती थीं। एक होटल में ठहर गया। स्थानीय परिचित मिल जाने से स्थान को समझने में सुविधा होती है इसलिये कम्युनिस्ट पार्टी का दफ्तर खोजने गया।

कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में उपस्थित साथियों ने एक सभा कर डालने का प्रस्ताव कर दिया।

मुझे ऊंचे स्वर में सभा को सम्बोधन करने में असुविधा होती है इसलिये इस कठिनाई से वचा रहना चाहता हूं। साथियों ने आश्वासन दिया—कोई वड़ी सभा नहीं, केवल साहित्यिकों की गोष्ठी का ही प्रवन्ध करना चाहते थे। यह भी वता दिया कि उस संध्या कामरेड लोगों का कोई पूर्व निश्चित वहुत आवश्यक कार्यक्रम था इसलिये वे लोग गोष्ठी में सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। ऐसा प्रवन्ध कर देंगे कि कोई व्यक्ति होटल जाकर मुझे गोष्ठी-स्थान पर ले आयेगा। सुना कि गोष्ठी पार्टी के दफ्तर के नीचे पुस्तकालय में ही करने का विचार था। मैंने कह दिया—"मुझे वुलाने आने की जरूरत नहीं। पाँच वजे तक इधर-उधर घूमूंगा और समय पर स्वयं ही पहुंच जाऊंगा।"

ठीक पाँच वजे गोष्ठी के लिये पुस्तकालय में पहुंच गया। ऊपर दफ्तर में जाने की आवश्यकता नहीं समझी। पुस्तकालय में १८-२० आदमी मौजूद थे। आपस में कभी अंग्रेजी में कभी स्थानीय भाषा में वातचीत चल रही थी। ऐसा लग रहा था कि अभी कुछ और आदमियों के आने की प्रतीक्षा थी। उपस्थित सज्जनों में से किसी से भी परिचय नहीं था। कुर्सी पर वैठ गया और जो पत्रिका हाथ पड़ी उठा कर पन्ने पलटने लगा। वैठे-वैठे आध घण्टे से अधिक वीत गया।

एक सज्जन, जिन्हें दूसरे लोग आदर से 'डाक्टर साहव' कह कर सम्वोधन कर रहे थे, घड़ी की ओर संकेत करके शेष लोगों से वोले—"साढ़े पांच वज चुके हैं, कब तक प्रतीक्षा कीजियेगा? मिस्टर यशपाल नयी जगह आये हैं शायद कहीं घूमने निकल गये होंगे। यहाँ न भी आ सकें। अव हम लोग भी चलें।"

मैं वोल पड़ा—"मैं तो ठीक पाँच वजे से यहाँ वैठा हूं। अनुमान था कि आप कुछ अन्य लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

डाक्टर साहव ने मेरी ओर कुछ विस्मय से देखा और आगे वढ़ हाथ मिला कर वोले—"अच्छा आप ही हैं। आप चुपचाप आकर वैठ गये थे। देखा तो था परन्तु आप का सूट-वूट और दुवला शरीर देखकर कलाकार होने

का अनुमान नहीं हुआ। सोच लिया था कि मिस्टर जिन्ना हवा बदली के लिए इनकोगनीटो ( चुपचाप ) दार्जिलिंग में आये हुए हैं।"

मैं कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर नहीं हूं कभी था भी नहीं, परन्तु सन् १९४९ में जब देश भर में कम्युनिस्टों को पकड़-पकड़ कर जेलों में डाला जा रहा था तो कम्युनिस्टों के संग-दोष या उन के प्रति सहानुभूति के कारण मुझे भी गिरफ्तार कर लिया गया था। मेरी गिरफ्तारी का कम्युनिस्ट विरोधियों ने और स्वयं कांग्रेसियों ने भी बहुत विरोध किया इसलिये मुझे जेल से तो रिहा कर दिया गया परन्तु सरकारी न्याय की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये छः मास के लिये लखनऊ से निर्वासित कर दिया गया था। गर्मियों का मौसम था इसलिये अल्मोड़ा चला गया। वहाँ कुछ परिचित मिल गये थे। वे अल्मोड़ा निवासियों से मेरा परिचय करवाते रहते थे। एक दिन अल्मोड़ा के एक राजनीति और साहित्य से सम्पर्क रखने वाले वयोवृद्ध सज्जन से सड़क पर परिचय कराया गया। सज्जन मुंह खोले मेरी ओर देखते रहे। मैं चल पड़ा तो उन का विस्मय से भरा स्वर सुनाई पड़ा--"अरे यह तो ऐसा ही आदमी जान पड़ता है।"

अल्मोड़ा विचारकों, साहित्यिकों, कलाकारों का प्रिय स्थान है। मेरे अल्मोड़ा प्रवास के समय भी वहाँ अनेक कलाकार और साहित्यिक आते रहे। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त, पहाड़ी, श्री राहुल जी, प्रभाकर माचवे, प्रकाशचन्द्र गुप्त और उपेन्द्रनाथ अश्क भी। इन में से कुछ साहित्यिकों के विशिष्ट रूप के विषय में सन्देह नहीं हो सकता। राहुल जी और माचवे को देख कर भी अल्मोड़ा के साहित्यिक-रुचि रखने वाले लोगों को सर्वथा निराशा नहीं हुई होगी। वे दोनों देखने में ललित-कोमल न सही, स्वस्थ और भव्य दर्शन तो हैं। मुझे अपनी इस कमी को कुछ हद तक पूरा कर सकने के लिये उचित पोशाक का ध्यान रखना पड़ता है। अस्तु, बीबी जी का ख्याल अब भी यही है कि मेरा चेहरा रोबीला है। कुछ लोग जो बहुत परिचित हो गये हैं, उन से खूब आत्मीयता हो गई है। श्रीमती जी की प्रसन्नता के ख्याल से या मुझे सान्त्वना देने के लिये कुछ झिझकते हुये श्रीमती जी का अनुमोदन कर देते हैं--आत्मरत और कला-मुग्ध कलाकारों की बात जाने दीजिये, आधुनिक कर्मठ कलाकार की रूपरेखा चुस्त, व्यवहारिक व्यक्ति जैसी ही होनी चाहिये।

यह बात नहीं कि लेखकों में केवल मेरा ही चेहरा कला और प्रतिभा की आभा से हीन हो या दूसरे सभी कलाकारों की प्रतिभा उन के चेहरों पर सदा

46470

दीप्यमान रहती हो और वे तुरन्त पहचान लिये जाते हों। हिन्दी साहित्य में 'उग्रजी' की उग्रता से कौन अपरिचित है। जिन लोगों ने कभी उग्रजी का चित्र देखा है, वे चित्र को भी नहीं भूल सकेंगे। उन की लेखनी के प्रभाव को भूल जाने की बात ही क्या ? मैं विद्यार्थी अवस्था में 'मतवाला' पढ़ते समय गहरी साँसें ले-लेकर 'उग्रजी' की तरह लिख सकने की महत्वाकांक्षा के स्वप्न देखा करता था। मैं भी कभी-कभी कुछ कड़ी बातें लिख जाता हूं। मेरी ऐसी प्रवृत्ति का कुछ उत्तरदायित्व उग्रजी को भी अपनाना चाहिये।

सम्भवतः सन् ५०-५१' की बात है, एक दोपहर दफ्तर में बैठा कुछ व्यवसायिक काम कर रहा था। उस समय के 'अधिकार' के सह-सम्पादक रामरूप जी पाण्डे एक और सज्जन के साथ पधारे। पाण्डे जी के साथ आये सज्जन के लहरदार केश गर्दन तक कटे हुए थे। रेल के सफर से मैला-सा कुर्ता धोती। उन से बैठने के लिये निवेदन किया।

पाण्डे जी ने साथ आये सज्जन का नाम बताकर परिचय दिया "बनारस निवासी हैं, लेखक हैं। आपके साहित्य से परिचित हैं। लखनऊ आये है, आप से मिलना चाहते हैं।"

मस्तिष्क काम में बहुत उलझा हुआ था। आगन्तुक सज्जन का नाम ध्यान से नहीं सुन सका। मेरे साहित्य से परिचित होने के कारण किसी का मिलने के लिये आ जाना बिल्कुल नया अनुभव नहीं था। हाथ का काम करते-करते पाण्डे जी से औपचारिक ढंग से बातचीत करता जा रहा था। ध्यान गया कि मेरे सामने बैठे आगन्तुक गुलाबी नेत्रों से मेरी ओर घूर रहे थे।

उन की ओर संकेत कर पाण्डे जी से प्रश्न किया--"क्षमा कीजिये, आप का नाम ठीक से सुन नहीं सका था।"

पाण्डे जी ने फिर दुहराया--"आप पाण्डे बेचन शर्मा 'उग्र' हैं। बनारस से आये हैं।"

ध्यान कुछ ऐसा भटका हुआ था कि आगन्तुक की गुलाबी आँखों में आँखें डाल कर पूछ लिया--"एक उग्रजी के नाम और कृतित्व से तो सब परिचित हैं। आप भी 'उग्र' उपनाम से ही लिखते हैं।"

"उग्र एक ही है, दो नहीं हैं।" आगन्तुक ने उत्तर दिया।

हाथ का कलम मेज पर रख कर, हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। निवेदन किया—"तो केवल उग्र कहिये। पाण्डे बेचन शर्मा बनारस से आये हैं, लिखते

हैं, यह सब कह कर उलझाने की क्या आवश्यकता है ? क्या आप छद्म वेश में भक्तों की परीक्षा लेने के लिये फिर रहे हैं ?"

अभिप्राय यह है कि उग्रजी की लेखनी से जन्म भर के लिये प्रभावित होकर भी उनके सहसा दर्शन से प्रभावित नहीं हो गया था इसलिये कहना चाहता हूं कि लेखक का प्रभाव उस के चेहरे से ही आंकने की इच्छा बहुत युक्ति-संगत नहीं है ।

चेहरा देख कर लोग मुझे क्या समझते होंगे, उस का भी उदाहरण दे दूं । कुछ वर्ष पूर्व की बात है, स्टेशन जाने पर सफेदपोश पुलिस वाले सलाम कर देते थे । पहले तो यही अनुमान किया कि खुफिया पुलिस के लोग हैं । कभी मेरी गतिविधि पर नज़र रखते होंगे इसलिये पहचान लेते हैं । उस के बाद अनुभव हुआ कि सड़क के चौराहे पर गुजरते समय ड्यूटी पर खड़े ट्रैफिक के सिपाही भी सलाम कर देते हैं । मन में ख्याल होने लगा कि अब सम्भ्रान्त नागरिक हो गया हूँ । शायद बीबी जी की बात ही ठीक है कि मेरा चेहरा रोबीला है । पुलिस वालों से सलाम पाने की बात परिचितों को बताने की इच्छा हुई ।

एक दिन काफी हाउस में दो-तीन परिचितों के सम्मुख कह दिया--"लखनऊ में पुलिस के सिपाही अब बहुत विनयी हो गये हैं । आते-जाते नागरिकों को सलाम कर देते हैं ।"

सामने बैठे सज्जन हंस पड़े--"गलतफहमी में सलाम कर दिया होगा । ट्रैफिक का नया इंसपेक्टर आया है ।" उन्हों ने नाम बताया, "शक्ल हूबहू आप से मिलती है । एक बार मुझे भी भ्रम हो गया था ।"

यह सूचना पाकर चुप रह जाना ही उचित था ।

ऐसा अनुभव केवल एक ही बार हुआ है कि मेरा रूप और आकृति देख कर मुझे पहचान लिया गया या लेखक समझ लिया गया । मुझे इस प्रकार पहचान लेने वाले थे, आधुनिक बंगला साहित्य के सर्वोपरी उपन्यासकार श्री ताराशंकर वंद्योपाध्याय । दूसरे प्रकार के अनुभवों की इतनी घटनायें सुनायी हैं तो वह घटना भी कह दूं ।

मार्च १९५१' की बात है, बंग प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अन्तर्गत कहानी परिषद् की अध्यक्षता करने के लिये कलकत्ता गया था । हिन्दी प्रेमी सेठों की ओर से सम्मेलन का आयोजन बहुत सज-धज से और विराट रूप में

किया गया था। स्टेशन पर सम्मेलन की ओर से प्रबन्धक उपस्थित थे। मेरे मित्र दीनानाथ वर्मा भी स्टेशन पर आ गये थे। मैं सम्मेलन की ओर से किये गये आतिथ्य के सामूहिक और कोलाहल-पूर्ण स्थान में नहीं ठहरा। प्रबन्धकों को आश्वासन दे दिया कि उद्घाटन के समय मुहम्मदअली पार्क में पहुँच जाऊंगा····· वर्मा जी के साथ उन के मकान पर चला गया।

सम्मेलन के उद्घाटन का रंग-ढंग साहित्यिक गोष्ठी के बजाय जश्न और बारात का ही लगा। बहुत बड़ा पंडाल फूल-पत्तियों और झन्डियों से खूब सजा हुआ था। बहुत विपद शानदार बैंड उद्घाटन के शुभ मुहूर्त पर बज रहा था। चाँदी के वरक लगे पानों के थाल और गुलाबपाश घूम रहे थे। भीड़ इतनी थी कि एक बार तो मुझे और वर्मा जी को आशंका हुई कि मंच तक पहुँच पाना सम्भव भी होगा? पर पहचान लिये जाने के कारण मंच तक राह मिल गई।

विराट आयोजन के अनुरूप ही विराट मंच था। दूधिया सफेद चादरों से ढके हुये बड़े-बड़े भारी विस्तृत गद्दे और सफेद मसनदें। बहुत से सेठ जान पड़ने वाले और कुछ लेखक जान पड़ने वाले सज्जन पालथियाँ मारे गाव तकियों के सहारे गद्दों पर बैठे थे। मैं और वर्मा जी साधारण बाजारू पोशाक—पतलून और बुशशर्ट पहने थे। पाँव में तसमेदार जूते। हम से भी मंच पर बैठने का अनुरोध किया गया। एक कोने में पांव लटकाकर बैठ गये परन्तु यजमानों का बहुत आग्रह था कि हम आराम से बैठें इसलिये पांव ऊपर खींच, घुटने मोड़ कर बैठ जाना पड़ा। पतलून पहिने इस तरह की बैठक में सुविधा नहीं होती। वर्मा जी के कान में कहा—"यहाँ इस समय विशेष कार्यक्रम तो होगा नहीं। केवल उद्घाटन की रीति होगी और शुभ सन्देश पढ़े जायेंगे। यह 'पलायनवाद' का ही समय है।" वर्मा जी भी यही चाहते थे।

"अभी जल्दी ही आते हैं।" यजमानों को कह दिया और हम दोनों पंडाल से बाहर आ गये। पंडाल से बाहर ही टैक्सी मिल गई और हम लोग 'चित-रंजन एवेन्यू' के काफी हाउस की ओर चले गये।

काफी हाउस के एक कोने में मेज खाली देख कर बैठे ही थे कि एक बहुत भद्र वेश बंगाली सज्जन, कन्धे पर अति शुभ्र कलफ लगी शाँतिपुरी चादर, वैसा ही सफेद कुर्ता और धोती पहने समीप आये और अंग्रेजी में बोले—"आप को असुविधा न हो तो अपने साथ बैठने की अनुमति दीजिये।"

जिस प्रकार भद्रता से अनुरोध किया गया था उसी प्रकार विनय से अनुमति दी—"अवश्य, सानन्द बैठिये !"

"धृष्टता न हो तो जानना चाहता हूँ कि क्या आप ही हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री यशपाल है ?" सज्जन ने प्रश्न किया ।

"जी हाँ, मेरा नाम यशपाल है ।"

मेरा नाम ताराशंकर वंद्योपाध्याय है । सज्जन ने अपना परिचय दिया ।

उन के सत्कार में सहसा खड़े होकर हाथ मिलाया । बंगला के सर्वोपरि उपन्यासकार तारा बाबू का विनय उन की महत्ता के अनुकूल ही था ।

मुझे भी मालूम था कि तारा बाबू 'बंग प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के स्वागताध्यक्षों में से थे । उन के दर्शन का यह पहला ही अवसर था । तारा बाबू ने बताया कि वे पण्डाल में मौजूद थे । मेरे विषय में उन्हें किसी ने भी नहीं बताया था और न उन्हों ने पूछा ही था । कुछ परिचितों से मेरे बारे में जो कुछ सुना था, उस से मुझे देखते ही अनुमान कर लिया यह आदमी यशपाल होगा । बोले – आप को पण्डाल से चलते देखा तो मैं भी आप के पीछे चल दिया था । आप को टैक्सी में बैठ जाते देखा तो टैक्सी का पीछा किया । क्षमा कीजिये, आप के विश्राम में बाधा बन रहा हूं ।"

लेखक की यथार्थ कल्पना-शक्ति का इस से अधिक बोलता उदाहरण और क्या हो सकता है ?

अपने चेहरे की गरीबी की इतनी लम्बी चर्चा करने का प्रयोजन पाठकों की करुणा और सहानुभूति को जगाना नहीं है बल्कि रुचि, समझ और दृष्टि-कोणों के भेदों की ओर संकेत करना है । चेहरा तो एक स्थूल वस्तु है, जिसे देखा जा सकता है, उस के हूबहू फोटो भी लिये जा सकते हैं । चेहरे के विषय में इतना मतभेद हो सकता है । स्थूल चेहरे की अपेक्षा कला बहुत सूक्ष्म वस्तु है । कला के तत्व, उस के स्तर, उस के प्रयोजन की परख और समझ में कितने ही मतभेदों की गुंजाइश हो सकती है ।

लेखक या कलाकार के चेहरे को आप चाहे जितना उपेक्षणीय बता दें, उसे उतनी चोट नहीं लगती जितनी की उस की रचना की परख में उपेक्षा वा भूल से उसे लगती है । उपेक्षा एक बात है, उस की उपेक्षा कर दी जा सकती है परन्तु जब परख के लिए दृष्टि का विशेष कोण बनाकर साहित्य और कला की परख की जाती है तो ऐसा पारखी अथवा आलोचक केवल लेखक के साथ

ही नहीं स्वयं कला और समाज के साथ भी अन्याय करता है। खेद है, इस प्रकार की आलोचनाओं और परख के अनुभव मुझे और दूसरे लेखकों को बहुत अधिक होते रहते हैं।

शायद लेखक का कल्याण इसी में है कि वह पाठकों द्वारा अपनी रचना की परख पर भरोसा करे। लेखक उन्हीं के सन्तोष के लिये श्रम करता है, आलोचक से सनद हासिल करने के लिये नहीं। मेरी रचनाओं की जैसी-जैसी विचित्र परख हुई है, वह स्वयं आलोचकों के दृष्टिकोणों, मान्यताओं और उन के प्रयोजनों को प्रकट करने के लिये बहुत अच्छे उदाहरण हो सकते हैं इसलिये कुछ एक उदाहरण ऐसी परख के दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

मेरी एक कहानी का शीर्षक है 'पाप का कीचड़'। यह कहानी मैंने 'नया पथ' मासिक के प्रति सहानुभूति के कारण उन्हें निःशुल्क प्रकाशनार्थ दे दी थी। कुछ लोगों से कहानी की प्रशंसा सुनी। उस के बाद 'नया पथ' के तत्कालीन सम्पादक ने मुझे नया पथ के उस विशेषांक के सम्बन्ध में हिन्दी-उर्दू के लेखक हंसराज 'रहबर' का पत्र भेज दिया। 'रहबर' ने उस अंक की सामग्री के विषय में राय देने के लिए लिखा था—यशपाल ने 'नया पथ' को 'पाप का कीचड़' जैसी कहानी शायद इसीलिये दे दी है कि मुफ्त कहानी देने की विवशता होगी।

सन् १९५६, में पेप्सू सरकार ने एक पुस्तक 'यशपाल अभिनन्दन ग्रन्थ' प्रकाशित की थी। इस संग्रह में अनेक लेखकों के लेख मेरे व्यक्तित्व और रचनाओं के सम्बन्ध में हैं। हंसराज 'रहबर' का भी लेख है। लेख में चर्चा है कि उन्हों ने लखनऊ मे मुझ से मिलने पर उस कहानी के विषय में कहा था कि उस कहानी की विषय-वस्तु सोलहवीं-सत्रहवीं सदी की ही समस्यायें हो सकती हैं। उन की बात सुनकर मैं 'हूं' करके रह गया था और टेलीफोन पर रहबर को लखनऊ रेडियो से कोई अवसर दिला सकने के लिये बात करने लगा। 'रहबर' की बात ठीक है। उस समय क्या उत्तर देता? कहानी के सम्बन्ध में कुछ ही पाठकों की प्रतिक्रियायें तब तक जान सका था परन्तु अब उन्हें बता सकता हूं कि वह कहानी कन्नड़ प्रदेश की परिस्थितियों को ध्यान में रख कर लिखी गई थी। कन्नड़ के पारखियों को कहानी में इतना आधुनिक यथार्थ लगा कि उन्हों ने अपनी भाषा में उस का अनुवाद करने की अनुमति चाही। मलयालम भाषा में भी उस का अनुवाद हो चुका है और हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका के पद का पुरस्कार पाने वाली पत्रिका भी उसे स्वयं चुनकर

प्रकाशित कर चुकी है। 'नवनीत' के कार्यालय से प्राप्त पत्र मेरे पास मौजूद हैं। उन्हें यह कहानी संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में जंची है परन्तु रहबर भी लेखक हैं और उन का भी अपना साहित्यिक दृष्टिकोण और परख है।

दूसरा उदाहरण हिन्दी साहित्य के आलोचक 'डाक्टर रामविलास' की परख का याद आता है। 'देशद्रोही' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। उपन्यास पढ़ने के बाद शीघ्र ही मुझ से मिले थे और मुग्ध-भाव से प्रशंसा की थी परन्तु जब उन्हों ने 'हंस' में 'देशद्रोही' की लम्बी आलोचना लिखी तो पुस्तक की बहुत कुछ प्रशंसा करके भी एक दोष बताया कि उस में कम्युनिस्टों के चरित्र को लांछित करने का यत्न किया गया है। इस विषय में अन्य साहित्यिकों की परख भी देख लीजिये – कम्युनिस्टों का सब से अधिक प्रभाव केरल में ही मानना पड़ेगा। केरल के हिन्दी जानने वाले साहित्यिक पी० वारियर ने 'देशद्रोही' का अनुवाद अपनी भाषा में किया है और उस भाषा का क्षेत्र सीमित होते हुए भी मलयालम में पुस्तक के तीन संस्करण छप चुके हैं।

'देशद्रोही' उपन्यास में मैंने कुछ ऐसे प्रदेशों का वर्णन किया है जिन्हें मैंने अपनी आँखों नहीं देखा परन्तु मेरे लिये जितनी जानकारी पाना सम्भव था, संचय कर ली थी। राहुलजी उन प्रदेशों में हो आये हैं। उन्हों ने बहुत उत्साह से सराहना की है कि पुस्तक के वर्णन यथार्थ और आँखों देखे लगते हैं। डाक्टर रामविलास ने अपनी आलोचना में राहुलजी की सम्मति का उल्लेख करके मुझे परामर्श दिया था कि अच्छा यही होता कि यशपाल अपने उपन्यास के लिये किसी आँखों देखे प्रदेश को चुनते। इस से उन का वर्णन अधिक सबल और सजीव हो सकता था।

डाक्टर रामविलास ने मेरी कहानी 'या साईं सच्चे' का उदाहरण देकर बताया कि यशपाल द्वारा 'या साईं सच्चे' के प्रदेश का वर्णन कहीं अधिक यथार्थ और सजीव है क्योंकि वह प्रदेश यशपाल का आँखों देखा है परन्तु यथार्थ यह है कि 'या साईं सच्चे' का प्रदेश भी मेरा आँखों देखा नहीं है और मुझे विश्वास है कि डाक्टर रामविलास ने भी उस प्रदेश को नहीं देखा होगा। पाठक ही बतायें कि इस प्रकार की आलोचनाओं का क्या मूल्य समझा जाना चाहिये ?

यदि कहानी और उपन्यास लेखक आलोचक डाक्टर रामविलास की सीख के अनुसार केवल आँखों देखे जीवन और परिस्थितियों के आधार पर रचना

का व्रत ले लें तो क्या होगा ? यदि मैं ऐसी सीख से बंध जाता तो न अपना उपन्यास 'दिव्या' लिख पाता और न 'झूठा-सच' ही। तुलसीदास 'रामचरित मानस' न लिखते और कालिदास के 'रघुवंश', मेघदूत' 'कुमारसम्भव' की रचना न हो सकती।

एक बार उग्रजी ने मेरी रचनाओं से खिन्न होकर कह दिया था कि यशपाल रूसी हंसिये-हथौड़े से भारतीय संस्कृति की निर्मम हत्या कर रहा है और १९४९ में मेरी गिरफ्तारी के विरोध में 'उग्रजी' ने ही लिखा था — 'यशपाल को जेल में डाल देने वाले कांग्रेसी सरकार के नेताओं को उन के मरने के दस वर्ष बाद कोई नहीं पूछेगा और यशपाल मर कर भी सौ बरस जिन्दा रहेगा।'

चेहरों, कला और विचारों की परख की परस्पर-विरोधी सम्मतियों के उदाहरण अभी और भी बहुत से दे सकता हूं। पाठकों के ऊब जाने का भय है।

मैं इसी परिणाम पर पहुंचा हूं कि सब की सुन लेना उचित है। सुनी और पढ़ी आलोचनाओं पर विक्षिप्त हुये बिना ग़ौर भी कर लेना चाहिये परन्तु लेखक के लिये भरोसे का मार्ग अपनी समझ से, अपने समाज के प्रति ईमानदारी निबाहना ही है।

सलाहकार अथवा लेखक निर्भय से अपनी भावना के प्रति ईमानदारी निबाहना चाहेगा तो उस के लिये निन्दा, आलोचना और कभी दण्ड की जोखिम भी सहनी पड़ सकती है परन्तु दूसरा मार्ग नहीं है,

लेखक के ऐसे व्यवहार को कुछ लोग अहम्मन्यता भी कह सकते हैं।

२

# व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामूहिक स्वतन्त्रता

सन् १९५०' में निर्विघ्न काम कर सकने और जून-जुलाई की गर्मी से बचने के लिये अल्मोड़ा चला गया था। वहाँ काम का ढंग अच्छा जम गया था इसलिये अक्तूबर तक वहीं रह गया।

सितम्बर में अल्मोड़ा का मौसम बहुत प्यारा हो गया। सवेरे-साँझ जरा गुदगुदा देने वाली सर्दी और दोपहर में प्यारी-प्यारी गर्मी के साथ सरसराता शीतल पवन। अल्मोड़ा पहाड़ की रीढ़ पर बसा है। दोनों ओर फैली हुई घाटियाँ हैं। घाटियों को ऊँचे पहाड़ों के परकोटे घेरे हुये हैं। सितम्बर के आरम्भ से ही आकाश स्वच्छ, निर्मल-नीला हो जाता है जैसे हिन्द महासागर का निश्चल, नीला निर्मल जल आकाश में चढ़ कर फैल जाने से पारदर्शी हो गया हो।

शरद के आरम्भ की धूप, नीले ईथर में से धुल कर आने के कारण खूब उजली हो गई थी परन्तु उस की तीक्ष्णता असह्य नहीं रही। बरसात में निरन्तर वर्षा से घाटियों में घनी श्यामल हरियाली भर गई थी। वह हरियाली चारों ओर खड़े ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ कर आकाश को स्पर्श करती जान पड़ती थी। अगस्त के अन्त में वर्षा समाप्त हो गई तो खेतों में फसल के साथ घाटी की हरियाली भी पक कर लाल-पीली पड़ने लगी। जहाँ-तहाँ उस में लोहे के जंगाल की सुर्खी पिसे हुये गेरू की तरह छिटक गई। माल-रोड के समानान्तर दूर की पहाड़ियों की रीढ़ों पर हिम की लम्बी-लम्बी टोपियाँ दिखलायी देने लगीं। प्रातः-संध्या जब उन हिम-शिखरों पर किरणें पड़ती हैं तो हिम की दबी-उभरी रेखाओं से भ्रम होने लगता है कि आकाश लोक की हेमांगिनी बालायें रात्रि में गगनचुम्बी पलंगों पर सो गई थीं। सूर्योदय हो जाने पर भी नींद की बेसुधी में अंगों को फैंके हुए निरावरण, निश्चिंत लेटी रह गई हैं।

मई-जून की लू से रक्षा पाने के लिये काफी लोग अल्मोड़ा में आ जाते हैं परन्तु वर्षा आरम्भ होते ही अपनी जीविका और कारोबार की चिन्ता से नगरों को लौट जाते हैं। सितम्बर तक केवल वही लोग रह जाते हैं, जिन के घर ही अल्मोड़ा में हैं या फिर ऐसे लोग जिन की जीविका की व्यवस्था ऐसी है कि दूसरे लोग उन के लिये श्रम करके, उन के पर्वत-निवास का व्यय जुटाते रहें। अल्मोड़ा में आकर रहने वाले ऐसे लोगों का अल्मोड़ा-निवासी बहुत आदर करते हैं क्योंकि कारोबार की चिन्ता न कर, अल्मोड़ा में रह सकना धनवान होने का प्रमाण जान पड़ता है।

बरसात के बाद अल्मोड़ा में प्रवास के लिये बहुत कम बाहरी लोग रह जाते हैं। एक श्रेणी तो विवश लोगों की है जिन का जीवन क्षय रोग से आतंकित है। वे डाक्टरों से राय पाकर, पहाड़ी हवा से प्राण-शक्ति पाने की आशा में अल्मोड़ा में पड़े रहते हैं। दूसरे लोग अति समर्थ हैं। वे अल्मोड़ा के सौन्दर्य का भोग कर सकने के लिये वहाँ रह जाते हैं परन्तु अल्मोड़ा का साधारण ग्रामीण किसान अपने प्रदेश के स्वर्गीय सौन्दर्य का सम्मोहन कभी अनुभव करता है, इस में काफी सन्देह है। उस जिले में उत्पादन के साधन कम ही हैं—पथरीली भूमि को तोड़ कर उस में से अन्न उपजाना, मैदानों के बड़े नगरों में उपयोग के लिये लकड़ी काट कर भेजना या बीहड़ घाटियों में भेड़-बकरी पाल कर ऊन उत्पादन करना। औद्योगिक उत्पादन का विकास अभी तक उस प्रदेश में नहीं हुआ है। मजदूरी के नाम पर मुख्यतः पीठ पर बोझा ढोने या लकड़ी काटने की ही जीविका हो सकती है। पहाड़ी किसान को कठोर, पथरीली भूमि से जूझ कर पेट भरने लायक अन्न उत्पन्न करने के लिये सदा पृथ्वी की ओर ही झुके रहना पड़ता है। उस पार्वत्य स्वर्गीय शोभा को देख पाने के लिये, गर्दन उठा सकने का अवसर ही नहीं मिलता। जब वह इस परिश्रम से चकनाचूर हो जाता है तो अपनी झोपड़ी की दीवार से पीठ सटाये, पावों पर बोझ दिये धरती पर बैठ कर, सूखे तम्बाखू के कड़ुवे धुयें के दो-चार कश खींच लेना ही उस के लिये सब से बड़ा सुख हो जाता है। निर्झर का संगीत, पत्तों में हवा की सरगोशियाँ, रश्मि-बालाओं का नृत्य, लैण्ड-स्केप, प्रजातन्त्र, अधिनायकवाद, मानव के अधिकार और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—यह सब शब्द उस के लिये अपरिचित और निरर्थक हैं।

अल्मोड़ा में मेरी स्थिति त्रिशंकु की थी। स्वास्थ्य को लाभ हो रहा

था, उस से अधिक अवसर था निरन्तर निर्विघ्न काम कर सकने का। माल रोड पर शाह जी की दुकान के सामने ही रहता था। अल्मोड़ा में यही सब से बड़ी और आधुनिक ढंग की दुकान थी। सन् ४७' से पहले अल्मोड़ा में काफी अंग्रेज परिवार रहते थे—उन की आवश्यकताओं ने इस आधुनिक दुकान को जन्म दिया होगा। किसी समय उस दुकान की साज-सज्जा भी अधिक अच्छी रही होगी; उस के चिन्ह शेष थे। अब वह बात नहीं थी। अब माल रोड का नाम भी 'गांधी मार्ग' हो गया था। दुकान सड़क पर बिल्कुल मकान के सामने होने के कारण, सब कुछ वहीं से खरीद लेता था। गत वर्ष भी उसी मकान में तीन मास रह गया था इसलिये शाह जी से अच्छा परिचय हो गया था—बल्कि उधार हिसाब चलने लगा था।

एक दिन दोपहर के भोजन के बाद कुछ विश्राम करके फिर काम आरंभ कर रहा था। उन दिनों पाइप पीने की आदत थी। तम्बाकू का डिब्बा खत्म हो गया था। टहलता हुआ तम्बाकू के लिये शाहजी की दुकान पर चला गया।

शाह जी ने परिचय के सौजन्य से मुस्कराकर कहा—"स्काच-ह्विस्की और फ्रेंच वाइन का कनसाइनमेन्ट आया है, जरूरत हो तो भिजवा दूं ?"

अंग्रेज लोगों के यह विलास आजकल साधारण लोगों के लिये बड़े-बड़े शहरों में भी दुर्लभ हैं। अनुमान है कि केवल चोरबाजार से थैलियाँ भर सकने वालों के लिये ही यह चीजें सुलभ रह गई हैं। अल्मोड़ा जैसी छोटी जगह की तो बात ही क्या ? कभी किसी अवसर पर, कोई भी चीज उपयोगी हो सकती है। दाम की जानकारी में हर्ज था ही नहीं। शाह जी से दाम पूछ लिया।

शाह जी ने धीमे से कहा—"हमें कौन ब्लैक करनी है। बयालीस रुपये बोतल। आप के यहाँ दो बोतल भिजवा देता हूँ। अब की चार महीने में कोटा आया है।"

"नहीं शाह जी !" शाह जी की आत्मीयता के प्रति कृतज्ञता से कहा, "दो घन्टे बेवकूफ बनने के लिये बयालीस रुपये खर्च करना मंजूर नहीं। अपने जैसे हिन्दुस्तानी घर का महीने का खर्च है।"

"बहुत ठीक कहते हैं।" शाह जी ने समर्थन किया, "इतने में तो घर का खर्च चल जाता है।"

उसी समय दुकान के सामने नीले रंग की फ्लीक मास्टर शैवरले गाड़ी आकर खड़ी हो गई। मोटे खद्दर की बुशशर्ट और फलालैन की ढीली-ढाली

पतलून पहने, लम्ब-तड़ंग अमरीकी साहब भीतर आ गये । साहब होठों में बुझी हुई बीड़ी दबाये थे । आते ही पुकार लिया—"गुड आफ्टर नून ।"

मुस्कान से साहब के अभिवादन का उत्तर दे कर पूछ लिया—"क्या शापिंग के लिये आना पड़ा ?"

"नहीं-नहीं, कुछ नहीं !" साहब ने बताया, "बैठे-बैठे ऊब लग रही थी । सोचा, कुछ सिगरेट ले आवें ।"

साहब ने शाहजी की ओर घूम कर चार टीन 'मैक्रोपोलो एक्सट्रा स्पेशल' सिगरेट मांग लिये ।

साहब को सड़क पर प्रायः ही होठों में बीड़ी दबाये देखा था । अल्मोड़ा में लोग विस्मय से उन के बीड़ी पीने की चर्चा करते थे । ख्याल आया कि ऐसे कई लोगों को जानता हूँ जो घर में बीड़ी का ही उपयोग करते हैं परन्तु परिचितों में या महफिल में सिगरेट पीते हैं, बीड़ी नहीं । साहब हिन्दुस्तानियों के सामने बीड़ी पीते हैं और घर में मैक्रोपोलो एक्सट्रा स्पेशल । दिखावा परिस्थिति के अनुसार होता है ।

शाह जी ने नौकर से साहब की गाड़ी में चार टीन सिगरेट रखवा दिये । साहब फिर मिलेंगे कहकर लौट रहे थे । शाह जी ने उन्हें भी स्काच ह्विस्की और फ्रैंच वाइन के आगमन की सूचना दे देना उचित समझा ।

साहब की आँखें चमक उठीं । तुरन्त बोले—"एक-एक दर्जन दे दो ।"

शाह जी ने सिर खुजाकर कहा—"अभी आप चार-चार बोतलें ले लीजिये । और माल आने वाला है, फिर पहुँचा देंगे ।"

साहब की मोटर में चार बोतलें स्काच ह्विस्की और चार बोतलें फ्रैन्च वाइन रख दी गईं । साहब के चले जाने के बाद शाह जी ने अपने सहकारी को समझाया—"सब एक ही आदमी को कैसे दे दें । कुल दो ही दर्जन तो आई हैं, और लोग भी तो हैं । कोई अफसर ही किसी वक्त माँग बैठता है । हमें तो सभी का ख्याल रखना है ।"

अल्मोड़ा में अमरीकी साहब के बारे में काफी चर्चा रहती थी । लोगों को उन के वैभव-सामर्थ्य के प्रति बहुत कौतुहल था और उन के बारे में कई बातें फैली हुई थीं । सुना था कि वे दक्षिणी अमरीका के अर्जेन्टाइना स्टेट के निवासी थे । उन की पत्नी रूसी थी अर्थात् सन् १९१७ में रूस में समाजवादी क्रांति हो जाने पर रूस से करोड़ों रुपये के जवाहरात और सोना लेकर भाग जाने

वाले किसी रूसी पूंजीपति या जागीरदार की औलाद थीं। अर्जेन्टाइना में साहब का पशुओं का कारोबार था। अफवाह थी कि उन की आय चालीस-पचास हजार रुपये मासिक थी, जिस की व्यवस्था उन के कारिन्दे करते रहते थे। उन्हें भारतीय संस्कृति और आध्यात्म में अनुराग था। उसी काअध्यय न करने के लिये वे अल्मोड़ा में डेढ़ हजार रुपये मासिक किराये पर बंगला लेकर निवास कर रहे थे। कभी-कभी अंग्रेजी बोलने वाले रामतीर्थ मिशन के साधुओं के साथ आध्यात्म चिन्तन भी करते थे। कभी राजनीति, कला, साहित्य की चर्चा करने वालों को बुला लेते थे। ह्विस्की के दौर के साथ विचार-विनिमय चलता रहता था। अल्मोड़ा प्रवास के समय ही साहब दिल्ली जाकर, हवाई-जहाज से सप्ताह भर में पूरे काश्मीर की सैर कर आये थे। लौट कर उन्हों ने विचार प्रकट किया था कि अल्मोड़ा काश्मीर, कुल्लू और स्विटजरलैंड से भी सुन्दर है। ऐसी बात कह कर साहब ने अल्मोड़ा निवासियों का मन जीत लिया था।

अल्मोड़ा वासियों को साहब के विचित्र आचरणों से कौतूहल होता था। उदाहरणतः बाजार में जाने पर या गांधी-मार्ग पर टहलते समय गांधी टोपी पहन लेना। राह चलते लोगों से आँखें मिला-मिला कर मुस्कराते जाना। बहुत से लोगों को बुला-बुला कर खूब आतिथ्य करना और निस्संकोच भारतीय राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर चर्चा करते रहना। कुछ लोगों को इतना व्यय करके साहब का अल्मोड़ा में ऊब अनुभव करने के लिये ठाली बैठे रहना सन्देह का कारण भी जान पड़ता था।

अल्मोड़ा निवासी मेरे स्वर्गीय मित्र देवदा को प्रायः संध्या समय, अमरीकी साहब के यहाँ जाकर ह्विस्की के दो पैग लेकर आध्यात्मिक और राजनैतिक बहस कर आने में कोई संकोच नहीं था। वह मज़े में आकर कह देते थे, अंग्रेज हमारे यहाँ ह्विस्की भेज कर हमें लूटते हैं परन्तु हमारे गीता और वेदांत के नशे के मुकाबिले में उन के यहाँ क्या है? इस नशे के लिये वे योरूप और अमरीका से खिंचे चले आते हैं।

देवदा दो बार मुझे भी अमरीकी साहब के यहाँ ले गये। उन दिनों उत्तर और दक्षिण कोरिया में युद्ध चल रहा था। पत्रों में सब से अधिक चर्चा उसी की रहती थी। वही आपस की बहस का विषय बन जाता था।

साहब को कोरिया के युद्ध से भारतीय सरकार की तटस्थता की नीति पसन्द नहीं थी। देवदा अपनी सरकार की नीति ठीक बताने के लिये बोले —

"उत्तर-दक्षिण कोरिया का झगड़ा क्या है ? वह तो कोरिया में समाजवादी व्यवस्था कायम करने के विरुद्ध अमरीका का आक्रमण है । केवल दक्षिण और उत्तर कोरिया की लड़ाई होती तो दस नहीं तो पन्द्रह दिन में फैसला हो गया होता । अब दक्षिण कोरिया में अमरीका लड़ रहा है और उत्तर कोरिया में समाजवादी शक्तियां ।"

साहब ने गर्व से स्बीकार किया—"प्रजातन्त्रवादी स्वतन्त्र देशों का यह कर्तव्य है कि निर्बल राष्ट्रों को कम्युनिज्म के आक्रमण से बचायें । अमरीका दक्षिण कोरिया में जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये लड़ रहा है ।"

देवदा ने साहब की बात स्वीकार नहीं की, बोले--"कोरिया के दो भागों में झगड़ा है तो उस का निर्णय वहाँ के जनमत से होना चाहिये । उन्हें लड़ने के लिये बम-मार हवाई जहाज देना, वहाँ हवाई जहाजों से बम गिरा कर देश को वीरान कर देना, क्या प्रजातन्त्र और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा है ?"

अमरीकी साहब उग्र स्वर में बोले—"यह रूसी प्रोपेगण्डा है । कोरिया को समाजवादी तानाशाही से बचाना सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों का कर्तव्य है; नहीं तो समाजवादी तानाशाही का हमला, अपनी बर्बर शक्ति से सड़क दबाने वाले इंजन की तरह सम्पूर्ण संसार को पीस डालेगा । देख लीजिये, चीन का क्या हाल हो गया ? पूरा देश व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दमन की चक्की में पिस रहा है । यदि भारत, समय रहते सावधान नहीं होगा तो यह तानाशाही पूरे एशिया को रौंद डालेगी । यह बर्बरता सम्पूर्ण सभ्यता को समाप्त कर देगी । जिस व्यवस्था में मनुष्य से मनुष्यता छीन ली जाये, उस से अपने विचारों और निर्णय के अनुसार व्यवहार कर सकने का अवसर और अधिकार छीन लिया जाये, वह केवल पशुता की अवस्था होगी । रूस और चीन में इसी पाशविक दासता का राज्य है ।"

साहब ने उत्तेजित और करुणार्द्र होकर कहा--"आप लोग अपनी महान संस्कृति और सभ्यता पर मंडराते हुये भय से बेखबर हैं । आप केवल रूस और चीन का प्रोपेगण्डा सुनते हैं परन्तु मैं समाजवादी बर्बरता से पिसते पूर्वी योरूप की दीन अवस्था अपनी आँखों देख आया हूं ।"

सन् ५२' तक मुझे सोवियत देश या पूर्वी योरूप जाने का अवसर नहीं मिला था । मैंने साहब से केवल सैद्धाँतिक स्तर पर कहना चाहा—"हमारे

देश के लोग अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार नीति अपना रहे है। जीवन में सामर्थ्य और अवसर हमारे और आप के साधनों पर निर्भर करता है। साधन ही हमारी स्वतन्त्रता की सीमायें निश्चित करते हैं। यदि मैं सब साधन समेट लूं और आप को साधनहीन बना दूं तो आप का व्यक्तित्व कसे स्वतन्त्र रह सकेगा ? पूंजीवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता····।"

देवदा ने वहुत ऊँचे स्वर में वोल कर मेरी बात को दवा दिया।

देवदा का ऐसा ही ढंग था। वे महफिल में अपने पक्ष की ओर से किसी दूसरे का कुछ वोलना अनावश्यक समझते थे। इतना भी मैं इसलिये बोल पाया कि वे सिगरेट सुलगा रहे थे। उन्हों ने ऊँचे स्वर में साहव को सम्वोधन किया—"आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। समाजवाद की समता और तानाशाही ने रूस और चीन में सव को पशु वना दिया है इसीलिये जब रूस और चीन में सामन्त-वादी और पूंजीवादी व्यवस्था थी, वे देश कभी आत्म-निर्भर न हो सके, योरुप और अमरीका से सदा डरते थे। जव से वहाँ नयी व्यवस्था आरम्भ हुई है, योरूप और अमरीका रूस और चीन से डरने लगे हैं। आप को इस बात का डर क्यों है कि भारत कैसी व्यवस्था अपनायेगा ? आप की पूंजीवादी व्यवस्था में अधिक स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता है तो अपने देश में गुलछर्रे उड़ाइये ! आप को हजारों मील दूर के देशों की नीति से दहशत क्यों अनुभव हो रही है ?"

साहव ने अपने मानवीय कर्तव्य का दावा किया—मानव की आत्मा, उस के विचारों और उस की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है।"

हम लोग लौट रहे थे तो देवदा अमरीकी साहव के विषय में कहने लगे—"इस आदमी के ख्याल में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर्श यही है कि इस के नौकर अर्जेन्टाइना में इस का कारोबार चलाते रहें और यह अल्मोड़ा में पाँच हजार रुपया महीना खर्च करके अपनी शान दिखाता रहे। इस के कारोबार के मज़दूर चाहे बच्चे की बीमारी में उचित दवा न खरींद सकें और यह यहाँ हमें समाजवादी बर्बरता के हौआ से सावधान करता रहे।"

सड़क पर एक अधेड़, खस्ताहाल आदमी ने देवदा को 'पाँय-लागन' कह दिया।

देवदा ने ठिठक कर पूछ लिया—"अरे जमनादत्त, कहाँ घूम रहे हो ? बागेश्वर नहीं गये ? क्यों, क्या बात है ?"

"नहीं हुजूर, डौल नहीं बन सका। मोटर का किराया नहीं जुटा। हुजूर, सत्तर मील है। इस उमर में पाँव-पैदल कहाँ चला जाता है ? गरीब परवर, कुछ इन्तजाम हो जाता तो मैं जल्दी ही लौटा देता।"

देवदा ने कहा—"अच्छा, इस समय जरा जल्दी है।" और तुरन्त चल दिये।

देवदा ने बताया—"जमनादत्त गरीब ब्राह्मण है। स्कूल का चपरासी है। कहता था बागेश्वर से चिट्ठी आई है, इस की बुढ़िया बीमार है। स्कूल का मैनेजर जोशी उसे छुट्टी नहीं दे रहा था। छुट्टी तो हम ने सात दिन की दिला दी कि जाकर देख आयेगा। अब इस के पास किराया नहीं जुड़ रहा तो हम क्या कर सकते हैं ?"

देवदा का स्वर ऊँचा हो गया और "यह ....." देवदा ने साहब को बेतकल्लुफी के सम्बोधन से याद करके कहा, "घर बैठा-बैठा ऊब जाता है तो शापिंग के लिये अल्मोड़ा से दिल्ली तक इतनी बड़ी गाड़ी अकेला दौड़ाता चला जाता है। उसे हमारी आत्मा की और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बहुत चिन्ता है। इस जमनादत्त को कौन-सी स्वतन्त्रता है ? इस देश की सरकार ऐसे श्रेणी-भेद को कैसे सह सकती है....."

संध्या के भोजन के बाद भी घण्टे दो घण्टे पिछला लिखा हुआ दोहराने का काम कर लिया करता था परन्तु उस संध्या काम में मन नहीं लगा। अमरीकी साहब से हुई बातचीत का प्रसंग मस्तिष्क में समाप्त नहीं हो गया था। ख्याल आ रहा था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामर्थ्य क्या भिन्न-भिन्न चीजें हैं ? जमनादत्त में सामर्थ्य नहीं तो घर जाने की स्वतन्त्रता मिल जाने से उसे लाभ क्या ?

जमनादत्त का ख्याल आया तो पास-पड़ोस में परिचित हो गये दूसरे लोगों का भी ख्याल आने लगा। साथ ही भट्ट जी का मकान और दुकान थी। उन का नौकर लछमन मुझ से आ कर बात कर चुका था कि मैं लखनऊ जाते समय उसे साथ लेता चलूं। वह लखनऊ में नौकरी करना चाहता था। वह दिल्ली में नौकरी कर चुका था। वहाँ अट्ठारह रुपये पा रहा था। भट्ट जी उसे बारह रुपये दे रहे थे। वह भट्ट जी से अधिक का तकाजा करता तो भट्ट जी उसे हटा कर दूसरा छोकरा रख लेते। अल्मोड़ा में रोजगार न होने के कारण इस से अधिक पाने की आशा भी नहीं हो सकती थी। लछमन की महत्वाकाँक्षा थी कि दिल्ली, लखनऊ में जाकर अठारह-बीस तनख्वाह पा सके

परन्तु सफर के लिये किराया नहीं था तो फिर उस की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्या अर्थ था ? ठीक है, विदेशी शासन से स्वतन्त्रता के बाद जनता की सरकार को लोगों की ऐसी परवशता और विवशता को भी तो दूर करने का यत्न करना चाहिये ।

यही सोचता रहा कि हमारे समाज की मौजूदा व्यवस्था में कितने आदमी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे हैं। शहरों में मकानों की तंगी और बढ़े हुये किरायों का ख्याल आ गया। दो-तीन दिन पूर्व लखनऊ से एक मित्र का पत्र आया था। वे तीन वर्ष से अच्छे मकान के लिये यत्न कर रहे थे परन्तु अच्छा मकान नहीं मिल रहा था। चार वर्ष पूर्व, उन के विचार से अच्छा मकान पच्चीस रुपये में मिल सकता था। केवल दो सौ रुपये तनख्वाह पाकर वे पच्चीस रुपये मकान के किराये में कैसे दे देते ? हार मानकर वे पच्चीस देने के लिये तैयार हुये। इतने दिनों में दो कमरे, एक रसोई और छोटे आँगन के मकान का किराया चालीस रुपये हो गया था। अब उन का पत्र आया था कि उन की बुढ़िया माँ लखनऊ आ गई थी। जरा बड़ी जगह लेना अनिवार्य था परन्तु अब दो कमरे का फ्लैट पचपन रुपये में भी नहीं मिल सकता था। चार वर्ष में उन की तनख्वाह केवल बीस ही रुपये बढ़ी थी परन्तु किराया और दाम बहुत अधिक बढ़ गये थे।

इन मित्र के लिये मुझे सदा ही चिन्ता रहती है। बहुत ही भले आदमी हैं। अधिक रुपया कमा सकने के अतिरिक्त उन में सभी गुण हैं परन्तु उन का जीवन सुखी नहीं है। जितने भी लोगों को जानता हूँ, उन्हीं की तरह हैं। वे अपने दुख को ढँक कर सुखी दिखाई देने का यत्न करते रहते हैं। मनुष्य को यदि स्वतन्त्रता हो तो सब से पहले वह अपने दुख को दूर करने का यत्न करना चाहता है। जिस में अपना दुःख दूर करने का सामर्थ्य नहीं, उस की स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ?

सर्व-साधारण की प्रत्येक इच्छा और आवश्यकता पर बाधा दिखाई देती है। हम जैसे लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ क्या है ? स्वतन्त्रता का तो अर्थ है कि अपनी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करने का यत्न कर सकें और हम पर किसी प्रकार का दबाव या भय न हो। विदेशी शासनकाल से चली आयी व्यवस्था में सर्व-साधारण को न तो आवश्यकतानुसार रहने का स्थान पाने की, न पूरा भोजन-वस्त्र पाने की, न आवश्यकतानुसार इलाज करा सकने

की, न सन्तान को इच्छानुसार शिक्षा दिला सकने की स्वतन्त्रता है। न उन्हें बेरोजगारी और रोग की अवस्था में रक्षा का आश्वासन और रक्षा के भय से स्वतन्त्रता है। हम लोग केवल ख्याली व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं। हमारी सरकार सर्व-साधारण जनता के प्रति उत्तरदायित्व अनुभव करके इस विषमता को दूर करने के लिये राष्ट्रीय विकास और उत्पादन की योजनाओं की बात सोचती है।

सहसा दोपहर से पहले सुनी बात याद आ गई। एक मित्र नैनीताल से आये थे। उन्हों ने अंग्रेजों के चले जाने के बाद रियासतों के विलयन से राजच्युत हो गये एक नवाब साहब की बात सुनायी थी। दो वर्ष पहले तक नवाब साहब नैनीताल में आते थे तो उन की अपनी खास डाँडियां (पाल्कियाँ) रहती थीं और वर्दीधारी डाँडी उठाने वाले। नवाब साहब काफी ऊँची जगह पर रहते थे। शरीर, विशेष कर तोंद काबू से बाहर होने के कारण उस चढ़ाई पर पैदल चढ़-उतर सकना उन के वश का नहीं था। अब उन्हें किराये की साधारण डाँडी पर ही आना-जाना पड़ता था। एक समय वे दूर से पहचान लिये जाने का प्रबन्ध किये रहते थे। अब उन्हें पहचाने जाने में लज्जा अनुभव होती थी। सर्व-साधारण में इस प्रकार खप जाना उन्हें कितना अपमानजनक लगता था।

एक दिन नवाब साहब नैनीताल के बड़े सिनेमा के सामने डाँडी से उतरे। नवाब साहब के कारिन्दे ने डांडी वालों को किराया दे दिया परन्तु डाँडी वाले सन्तुष्ट नहीं हुये। कारिन्दा और देने के लिये तैयार नहीं था।

डाँडी के कुलियों ने गिड़गिड़ाकर कहा—"हुजूर, बहुत बोझ लाये हैं।"

समीप कुछ नौजवान खड़े थे, शायद विद्यार्थी होंगे। एक बोल पड़ा—"आदमी क्या, भैंसे को उठा कर लाये हैं।" उस के साथी खिलखिला उठे।

नवाब साहब की आँखों में खून उतर आया, जबान नहीं रोक सके। गाली निकल गई। अपनी सल्तनत को याद कर बोले—"न हुये ऐसे लोग वहाँ नहीं तो सिर कलम करवा देते।"

यह बात सुन कर नवाब साहब की विवशता पर हम लोग भी हंस लिये थे परन्तु सन्ध्या समय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रश्न की उलझन में था तो ख्याल आया, क्या नवाब साहब की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं छीन ली गई है?

कल्पना और भी दूर चली गयी। ब्रिटिश साम्राज्य के सम्राट और इंगलैंड

के राजा एडवर्ड अष्टम की बात याद आ गई। बेचारे के विवाह पर इंगलैंड के प्रधान मन्त्री और इंगलैंड के अभिजात-वर्ग को आपत्ति थी। अपनी इच्छा से विवाह कर सकने के लिये उसे राज-गद्दी छोड़ देनी पड़ी। यह उस की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कितना भयंकर आघात था। सोचा, यदि भारतीय नरेशों पर इस प्रकार का बन्धन लगाने का यत्न किया जाता तो क्या वे अपनी स्वतन्त्रता सीमित करने के लिये तैयार हो जाते ? मुगल सम्राटों की भी बात याद आ गई।

कल्पना करने लगा, एक दिन तो एडवर्ड अष्टम स्वर्ग जायेगा ही। वहाँ उस की मुलाकात मुगल सम्राटों और सामन्त युग के मामूली रजवाड़ों से होगी तो बेचारा उन्हें क्या मुंह दिखायेगा ? क्या वे लोग उसे घृणा से फटकार नहीं देंगे--तुम्हारे साम्राज्य का इतना विस्तार था कि सूर्य भी उस की सीमा को लाँघ नहीं सकता था और तुम्हारी इतनी क्षमता नहीं थी कि मनचाही औरत को हरम में डाल सकते। ऐसे सम्राट होने का फायदा ही क्या था ? तुम अपने वजीरों और सामन्तों से डर गये ? दस-पाँच हजार के सिर नहीं कलम करवा दे सकते थे ?

सोचा, प्राचीन राजा और बादशाह अपनी हरम की तीन-तीन सौ, पाँच-पाँच सौ रानियों की संख्या बताकर बेचारे एडवर्ड पर हँसेंगे। यदि रावण वहाँ होगा तो एडवर्ड को फटकारेगा--तुम कैसे भीरू थे ? मेरा मन अयोध्या के राजा की रानी पर मचल गया था, उसे उठा लाया। अयोध्या के राजा ने मेरी सोने की लंका पर चढ़ाई कर दी। मेरी सोने की लंका उजड़ गयी। मैं युद्ध में हार गया। मेरी सम्पूर्ण प्रजा मारी गई। मेरे भाई और सन्तान सब मारे गये परन्तु मैं दबा नहीं। मैं समर में खेत रहा तभी अयोध्या का राजा अपनी रानी वापस लौटा सका और तुम ऐसे कायर थे कि स्वयं राज्य छोड़ कर भाग गये ?

अलाउद्दीन खिलजी, एडवर्ड की ओर वितृष्णा से देखकर कहेगा--हमें तो चित्तौड़ की पद्मिनी पसन्द आ गई थी। उस के लिये पचासों-हजार आदमी कटवा दिये, मुल्क वीरान कर दिये। वह बादशाह क्या जो रियाया की आपत्ति से डर जाये।

मुहम्मद गोरी भी बोलेगा--यह तो अपने-अपने शौक की बात है। किसी को जोरू का शोक तो किसी को ज़र का शौक। हमें जवाहरात का शौक था।

हम ने सोमनाथ के मन्दिर के जवाहरात लूटने के लिये सत्रह बार हजारों मील के धावे बोले और खजाना लूट लिया। तुम्हीं अन्दाज़ करो कि अफगानिस्तान के गोरी शहर से सोमनाथ तक, सत्रह हमलों में सत्रह लाख आदमी से क्या कम कत्ल करवाये होंगे ?

नादिरशाह अपनी दाढ़ी पर हाथ फेर कर कहेगा—तुम ने क्या कत्ल किये होंगे, हम तो शौकिया कत्ले-आम करवा देते थे।

नीरो बोल उठेगा—अमाँ, तुम ने क्या शौक किये होंगे ? शौक हम ने किये हैं जो शौक के लिये पूरे रोम को जलवा दिया और बाँसुरी बजाते तमाशा देखते रहे।

आखिर एडवर्ड अष्टम को भी बोलना पड़ेगा। दोगों हाथ उठा कर सुनने के लिये अनुरोध करेगा और कहेगा—आप सब लोग जानते है, मैंने उत्तराधिकार में, संसार के इतिहास में सब से बड़ा साम्राज्य पाया था परन्तु आप की और मेरी स्थिति में कुछ फर्क था। आप को मालूम नहीं कि पृथ्वी पर क्या-क्या परिवर्तन हो गये हैं ?

आप लोग एक-छत्र साम्राज्यों या राज्यों के सम्राट और राजा थे। मैं प्रजातन्त्र साम्राज्य का सम्राट था। प्रजातन्त्र साम्राज्य में, सम्राट के अधिकार को 'लिमिटेड मोनार्की'— सीमित राज्याधिकार भी कहते हैं। प्रजातन्त्र साम्राज्य में प्रजा का निर्णय, सम्राट की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर भी बन्धन लगा देता है.....

मैं कल्पना में सोचने लगा—क्या रावण, चन्द्रगुप्त, बाबर, नादिरशाह, जहाँगीर और दूसरे सम्राटों और राजाओं को एडवर्ड अष्टम की बात पर विश्वास हो सकेगा ? वे उस की बात समझ सकेंगे ? अपनी इच्छा के सम्मुख किसी की बाधा को स्वीकार करने की बात एक-छत्र राज्य के युग के शासकों को समझ नहीं आ सकेगी। उन्हें समझ नहीं आ सकेगी तो न आये पर संसार तो बदल गया है।

एक-छत्र राज्य की व्यवस्था में एक-मात्र राजा को ही पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता थी। राजा के अतिरिक्त दूसरे लोगों को उतनी ही स्वतन्त्रता थी जितनी राजा अपने लिये भय न देख और उन पर दया करके उन्हें देना चाहता था। राजा की असीम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अन्य सब को परतन्त्र बनाये थी। राजा को कोई भी 'क्यों' प्रश्न नहीं कर सकता था इसलिये राजा को 'दैवी

शक्ति' या 'ईश्वर का प्रतिनिधि' माना जाता था। उस युग में केवल राजा ही ईश्वर की तरह पूर्ण स्वतन्त्र, सर्व-शक्तिमान माना जाता था। अन्य सब का धर्म, उस की आज्ञा के विषय में भी शंका किये बिना, उस की आज्ञा को पूर्ण करना था। उस युग में राजा की आज्ञा से अपने भाई-बन्धुओं का, अपनी संतान का कत्ल कर देना स्वामी-भक्ति के परम धर्म का आदर्श समझा जाता था परन्तु अब राजा की वैसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रजा की वैसी स्वामी-भक्ति को उचित और धर्म बताने के लिये कौन तय्यार है ?

एक और विचार आया, एक समय देशों या भू-भागों के राजा और सम्राट होते थे। उस युग में भूमि ही उत्पादन का सब से बड़ा साधन थी। उस के बाद औद्योगिक विकास से उत्पादन के अन्य साधनों का भी महत्व बढ़ गया। इस युग में भूमि के राजाओं और सम्राटों का उतना महत्व नहीं रहा। अब पदार्थों के अथवा उत्पादनों के साधनों के स्वामी होने लगे हैं। अमरीका में ऐसे सौदागरों और उद्योगपतियों को 'काटन किंग' (रुई का राजा), 'आयल किंग' (तेल का राजा), 'कोल किंग' (कोयले का राजा) पुकारा जाता है। अब लोग सामर्थ्य होने पर ऐसे ही राजा बनना चाहते हैं। भूमि का चक्रवर्ती राजा होने की महत्वाकांक्षा अब कोई नहीं करता।

भूमि अथवा देशों के राजाओं का प्रभाव उन के देशों की सीमाओं तक सीमित रहता था परन्तु इन सौदागरों, उद्योगपतियों और उत्पादन के साधनों के राजाओं की शक्ति के विस्तार और प्रभाव की सीमा नहीं है। बम्बई से योरूप जाते समय जिस बन्दरगाह से गुजरिये, आप को प्रायः ही सनलाइट, लिपटन, ब्रुक-बाण्ड, ओमेगा, पालसन, राली के नाम दिखाई देते जायेंगे। यह नाम इन कम्पनियों के मुनाफा कमाने के क्षेत्रों या साम्राज्यों का परिचय देते जाते हैं।

इस युग के सौदागरों, पूंजीपतियों और उद्योगपतियों के धन-सामर्थ्य की तुलना बड़े से बड़े प्राचीन सम्राट भी नहीं कर सकते थे। राज-सत्ता और सामन्त-युग में शक्ति तोप-तलवार की होती थी। इस युग में रुपये बल्कि चैक की होती है। प्राचीन युग का कोई राजा भी दूसरे देश में जाकर ऐसा विलास नहीं कर सकता था जैसा अमरीकी साहब अल्मोड़ा में कर रहे हैं। यह तो खेल-खिलवाड़ और भोग-विलास के लिये धन की पहुँच का उदाहरण है। अखबार पढ़ने वालों को शासन और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पूंजी के

प्रभाव के विषय में कुछ बताने की आवश्यकता नहीं है। अनेक देश औद्योगिक विकास कर सकने के लिये या सामरिक तत्परता के लिये दूसरे देशों से अरबों रुपये ऋण और सहायता के रूप में ले रहे हैं। ऐसे ऋण अथवा सहायता देते समय धनी अथवा दाता देशों को अपने हित या स्वार्थ का भी कुछ ध्यान रहता ही होगा।

मनुष्यों को इतना धन कमा सकने की इच्छा क्यों होती है? प्राचीन राजा और सम्राट अपनी शक्ति बढ़ा कर दूसरे देशों को जीतना चाहते थे। आज के व्यवसायपति अपना धन बढ़ाकर व्यवसाय के क्षेत्र को बढ़ाने का यत्न करते हैं। पुराने सम्राटों और राजाओं से अधिक धन बटोर लेने पर भी आजकल के व्यवसायी राजा, पुराने राजाओं और सम्राटों की तरह निर्बाध और स्वतन्त्र नहीं हो जाते। यह लोग मन में उमंग आने पर सेना लेकर दूसरे देश जीतने के लिये चढ़ाई नहीं कर सकते, किसी से अप्रसन्न हो जाने पर खुले आम निर्भय उस व्यक्ति को हाथी के पाँव तले नहीं कुचलवा दे सकते, न उसे सूली पर चढ़ा सकते हैं। यह लोग जनमत की उपेक्षा करके सौ-पचास रानियां या रखेलें नहीं रख सकते हैं। वे दासों की सेनायें भी नहीं रख सकते। पुराने सम्राटों और राजाओं की तरह उन का वचन या हुकुम ही न्याय और नियम नहीं बन सकता अलबत्ता वे अपने उद्योग और व्यवसाय चला सकने के लिये मज़दूरों की सेनायें रख सकते हैं। वे कानून की सीमा में रह कर होड़ में दूसरे व्यवसायियों को समाप्त कर दे सकते हैं। वे अपने धन की शक्ति से प्रजातन्त्रात्मक उपायों द्वारा, अपनी सूझ-बूझ के अनुसार और अपने हित में देश के कानून बनवा सकते हैं। देश का शासन वे ही लोग करते हैं परन्तु उन के तरीके और उपाय एक-छत्र राजाओं और सामन्तों के तरीकों और उपायों से भिन्न हैं।

प्रसंग तो था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का। आजकल के व्यवसायपति पूंजी के राजा अथवा शासक, सब प्रकार का सामर्थ्य होते हुये भी पुराने राजाओं की तरह निर्बाध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पा लेने का स्वप्न क्यों नहीं देखते? मुझे तो एक ही उत्तर सूझता है। सब को बाधित कर सकने के या सब को दबा सकने के अधिकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तो एक क्षेत्र में केवल एक ही आदमी भोग सकता था। आज की व्यवस्था में सामर्थ्य और शक्ति एक राजा के हाथ से निकल कर उत्पादन के साधनों के अनेक राजाओं की बिरादरी—

पूंजीपति श्रेणी के हाथ में आ गई है। वे सब समान रूप से स्वतन्त्र उसी अवस्था में रह सकते हैं जब उन्हें दबा सकने की शक्ति उन में से किसी के भी हाथ में न हो। पूँजीवादी प्रजातन्त्र में मनुष्य-मात्र की समता और समान अधिकार का यही आदर्श है। पूँजीपति बिरादरी ने प्राचीनकाल के सर्व-शक्तिमान निरंकुश राजाओं और सामन्तों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को आपस में बांट लिया है। वे एक-दूसरे के अधिकार का कानूनी अंकुश मान कर अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सीमित रखते हैं। अधिक लोगों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता दे सकने के लिये कुछ प्रकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं पर अंकुश लगाना आवश्यक हो जाता है।

पूंजीवादी प्रजातन्त्र ने मनुष्य-मात्र को कानूनी अधिकारों की समता दे दी है परन्तु इन अधिकारों के प्रयोग के लिये सामर्थ्य चाहिये। ऐसा सामर्थ्य सिक्कों या पूँजी के रूप में बदल गया है। ऐसा सामर्थ्य होने पर आप निजी और पारिवारिक आवश्यकताओं को और शक्ति उपार्जन करने की अपनी महत्वाकांक्षाओं को भी प्रजातन्त्र व्यवस्था से मिलने वाले कानूनी अधिकारों की सीमा तक पूरा कर सकते हैं; शासन पर भी प्रभाव डाल सकते हैं।

प्रजातन्त्र व्यवस्था में शासन की शक्ति और नीति को चुनाव निश्चित करते हैं। चुनाव में सफलता के लिये साधन या पूंजी चाहिये। पूंजीवादी प्रजातन्त्र सम्पूर्ण प्रजा को कानूनन समान अधिकार और शासन का सामूहिक अधिकार तो देता है परन्तु जीवन के साधनों पर समान और सामूहिक अधिकार नहीं देता।

पूंजीवादी प्रजातंत्र की व्यवस्था के आदर्श के अनुसार सरकार या शासन सब लोगों की राय से चलना चाहिये परन्तु आर्थिक व्यवस्था यानि समाज में उत्पादन और बटवारा भी सब लोगों की राय से हो, यह पूंजीवादी प्रजातंत्र का आदर्श नहीं है।

पूंजीवादी प्रजातन्त्र के कानून की दृष्टि में, मनुष्य-मात्र की समता के आदर्श के अनुसार अपनी बीमार बुढ़िया को देखने के लिये बागेश्वर जा सकने में असमर्थ जमनादत्त, बीस रुपये की नौकरी के लिये लखनऊ-दिल्ली जा सकने में असमर्थ लछमन, पचपन रुपये मासिक पर अच्छा मकान ले सकने में असमर्थ मेरे मित्र और अपने व्यवसाय के लाभ में से धर्म-कार्य के लिये निकाल दिये नगण्य अंश से पाँच कालेज, पच्चीस धर्मशालायें बना सकने वाले, प्रत्येक प्रदेश

की विधान सभाओं में अपने आदमी चुनवा सकने वाले व्यवसायी राजा सब एक समान हैं। पूंजीवादी प्रजातंत्र में कानूनन सब को समान व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है। सब के लिये न्याय का द्वार समान रूप से खुला हुआ है परन्तु नित्य जीवन के व्यवहार में इस समान व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ? यह बात इस देश की आवश्यकताओं और बेरोजगारी से पीड़ित प्रत्येक व्यक्ति जानता है और देश की अवस्था से परिचित दूसरे लोग भी जानते हैं इसीलिये वे समाजवादी अर्थ-व्यवस्था द्वारा श्रेणी भेद और विषमता को दूर करने की चिंता में हैं। दूसरी ओर स्वदेश से दूर अल्मोड़ा में पड़े अमरीकी साहब भारतीयों को पूंजीवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये सावधान कर रहे हैं। यह सोच कर कि भारत सरकार की नीति पूंजीपतियों की विशेष व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को समाप्त कर देगी, उन का हृदय दहल उठता है।

मुझ जैसे लोगों को जो या जितनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता है, हम जानते ही हैं। हम जैसे लोगों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिये आन्दोलन उठाने की कोई आवश्यकता भी नहीं जान पड़ती। हमारी ऐसी कौन स्वतंत्रता है जिसे कोई छीन लेगा। अलबत्ता स्वच्छंद राजाओं के राज्य और सामन्ती युग की व्यवस्था से हम जरूर अपने आप को स्वतंत्र अनुभव करते हैं। सर्वसाधारण लोग व्यक्तिगत स्वतंत्रता अनुभव करें या न करें, उस स्वतंत्रता की रक्षा के लिये शोर काफी सुनाई देता है।

पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता निजी सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से गुथी हुई है बल्कि मुझे तो वे दोनों समानार्थक जान पड़ते हैं।

खयाल आया, व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पुकार या प्रश्न कब उठता है ? याद आया—जनमत के बल पर जब पहली बार कांग्रेस सरकार बनी थी तभी काग्रेस सरकार ने किसान प्रजा की अवस्था देख कर, जमीन्दारी प्रथा को कानूनन समाप्त कर देने की आवश्यकता अनुभव की थी। जमीन्दारों को अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर चोट अनुभव हुई थी। गांधी जी को भी जमीन्दारों की स्वतंत्रता पर यह आघात अन्याय जान पड़ा था। गांधी जी के विरोध के बावजूद किसानों को जीवित रह सकने योग्य स्वतंत्रता देने के लिये काँग्रेस सरकार को जमीन्दारों की——गांव के गांव अपनी सम्पत्ति बनाये रखने की—— व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बंधन लगा देना पड़ा। उसी प्रक्रिया में आज भूमिहीन

किसानों को पेट पालने के अवसर की स्वतंत्रता दे सकने के लिये, सरकार के सामने भूमि के स्वामित्व की सीमा पर बंधन लगाने की आवश्यकता का प्रश्न आ गया है।

रेंट कंट्रोल ( मकान किराया नियंत्रण ) कानून लागू किया जाने पर भी मकान मालिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात अनुभव किया गया था। मेरे मकान मालिक ने मुझ से अधिक किराया न मांग सकने की अपनी स्वतंत्रता छीन ली जाने पर मेरे सामने ही अन्याय के लिये दुहाई दी थी—बताइये, कहने को मकान हमारा है पर हम अपना मकान किरायेदार से वापिस नहीं ले सकते ! हम किराया भी तय नहीं कर सकते ! ऐसा जुल्म तो संसार में नहीं सुना था। यही तो कलियुग है।

सम्पत्ति के स्वामित्व की परम्परागत धारणा के अनुसार मेरे मकान-मालिक की बात ठीक थी परन्तु यदि किरायेदारों को मकान से निकाल सकने की या किराया बढ़ाते जाने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता मकान-मालिकों को रहती तो किरायेदारों का क्या हाल होता ? समाज की रक्षा के लिये मकान-मालिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर रेंट-कंट्रोल द्वारा बंधन लगाना आवश्यक था या नहीं ? ऐसे ही कारणों से स्वयं पूंजीवादी सरकारों को भी समय-समय पर पदार्थों के भावों पर कंट्रोल लगा देने पड़ते हैं और यह कंट्रोल पदार्थों के व्यवसायियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बंधन होता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आदर्श के नाम पर 'फ्री एन्टरप्राइज़' (निजी स्वतन्त्र व्यवसाय) की मांग का क्या अर्थ है ? पूंजीवादी प्रजातंत्र में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का व्यवहारिक अर्थ है कि हमारे समाज के लाखों-करोड़ों आदमियों की जीविका पर नियंत्रण रखने का अधिकार और अवसर उत्पादन के साधनों के मालिकों की बिरादरी के हाथ में ही रहे। उत्पादन के साधनों के स्वामी देश की अर्थ-व्यवस्था और राजनीति को जिस प्रकार चाहें चलाते रहें। मिल-मालिक और मिल-मज़दूर की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में परस्पर जैसा अनुपात और सम्बन्ध है, वैसा ही अनुपात और सम्बन्ध सम्पूर्ण देश के उत्पादन और वितरण का नियंत्रण करने वाले व्यवसायपतियों और साधारण प्रजा की व्यक्तिगत स्वतंत्रता में है।

किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सीमा कैसे जानी जा सकती हैं ? यदि सभी लोगों को समान रूप से स्वतन्त्रता देनी हो तो यह ध्यान रखना होगा

कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता आपस में न टकराये। सामर्थ्य, अधिकार, अवसर और स्वतन्त्रता यह सब शब्द समानार्थक हैं इसलिये समाज में व्यक्तियों के सामर्थ्य, अधिकारों और अवसरों को भी आपस में नहीं टकराना चाहिये। हमारी स्वतन्त्रता की सीमा वहीं समाप्त हो जाती है जहाँ दूसरे की स्वतंत्रता की सीमा आरम्भ होती है। इसी नियम को ध्यान में रख कर प्रजातंत्रवाद की व्यक्तिगत समता और स्वतंत्रता के न्याय की धारणा बनायी गई थी।

पूंजीवादी प्रजातंत्र व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि सामर्थ्य और अवसर होने पर एक सेना खड़ी कर, अपना स्वतंत्र राज्य या शासन कायम कर ले और अपने आधीन क्षेत्र में मन चाहे कर और कानून लागू कर ले क्योंकि किसी भी व्यक्ति के हाथ में ऐसी शक्ति का होना शेष लोगों की स्वतंत्रता के लिये भयावह है परन्तु पूंजीवादी प्रजातंत्र में सम्पत्ति और उत्पादनों पर स्वामित्व की शक्ति को असीम रूप में बढ़ाया जा सकता है। क्या कुछ लोगों की ऐसी विशेष शक्ति हीन साधन अथवा साधनहीन लोगों के लिये दमन और भय का कारण नहीं बनी हुई है ?

पूंजीवादी प्रजातन्त्र का प्रयोजन और आदर्श, उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को मानना और उस की रक्षा करना है। पूंजीवादी प्रजातन्त्र में कोई व्यक्ति शस्त्र-बल से किसी भूमि के क्षेत्र पर कब्जा करके जबरदस्ती अपना स्वामित्व कायम नहीं कर सकता और उस क्षेत्र के लोगों को अपनी प्रजा बना कर उन से मनचाहा कर या 'खिराज' वसूल नहीं कर सकता परन्तु पूंजीपति या उद्योगपति उत्पादक साधनों के स्वामित्व के बल से या व्यवसाय के माध्यम द्वारा उत्पादन के साधनों को अधिक से अधिक समेट ले तो कोई बाधा नहीं है।

इस समाज में व्यवसायपति साधनों के स्वामित्व से उत्पादन पर अपना नियंत्रण कायम कर सकता है। उत्पादन के स्वामित्व की शक्ति से वह साधनहीन परन्तु जीविका के लिये आतुर लोगों को अपनी व्यवसायिक प्रजा बना ले सकता है और उन्हें जीविका कमा सकने का अवसर देने का 'कर' उन से ले सकता है। व्यवसायी इस कर को अपना लाभ कहता है। ऐसी व्यवस्था में व्यवसायी राजा और व्यवसायिक प्रजा के व्यक्तिगत सामर्थ्य, व्यक्तिगत अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता एक समान कैसे हो सकते हैं ? व्यवसायी राजा और व्यवसायिक प्रजा की विषमता को दूर करने के लिये, साधनहीनों को जीविका

का अवसर पाने के लिये, कर देने की विवशता को दूर करने के लिये क्या यह आवश्यक नहीं है कि व्यवसायी राजा की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को भी उसी प्रकार सीमित कर दिया जाये जैसे पूंजीवादी समता का आदर्श स्थापित करने के लिये भूपति राजाओं और सामन्तों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित कर दिया गया था।

महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता कितने आदमियों के लिये चाहिये ? सब को समान अधिकार, अवसर और स्वतंत्रता देने के लिये किसी के भी हाथ में दूसरों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य, अधिकार, अवसर और स्वतंत्रता देना घातक है। यह विशेष सामर्थ्य, अवसर, अधिकार और स्वतंत्रता चाहे शस्त्रों ओर सैनिकों के बल पर हो, चाहे पूंजी और उत्पादन के साधनों के बल पर हो वह साधन और पूंजीहीनों को समान सामर्थ्य, अवसर, अधिकार और स्वतंत्रता नहीं पाने दे सकती। साधन और अवसर के बिना कानूनी अधिकारों का उपयोग नहीं हो सकता।

राजा के सर्व-शक्तिमान रहते, राजा को अपने सामन्तों-सौदागरों को दबा सकने की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता रहते पूंजीवादी प्रजातन्त्र की अपेक्षाकृत व्यापक व्यक्तिगत स्वतंत्रता पनप नहीं सकती थी। उस अवस्था में सौदागरों, पूंजीपतियों और उद्योगपतियों को निर्बाध रूप से अपने क्षेत्र और शक्ति बढ़ाते जाने का, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व जमा सकने का अवसर नहीं हो सकता था या कहिये उन्हें पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं थी। इसी प्रकार पूंजीवादी प्रजातन्त्र की व्यवस्था में समाज के उत्पादन के साधनों, जीविका निर्वाह के उपायों और सभी अवसरों पर सौदागरों-पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का नियन्त्रण रहने पर समाज के बहुसंख्यक-साधनहीनों को भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं है।

सम्पूर्ण समाज समान अधिकार, समान अवसर और समान स्वतन्त्रता तभी पा सकता है जब समाज में उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का समान और सामूहिक अधिकार और नियन्त्रण हो। समाज के किसी भी अंश को उस अधिकार से वंचित करना उचित नहीं है परन्तु जो वंचित है उन्हें वे अधिकार और अवसर समान और सामूहिक रूप से देने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से मुझे जान पड़ता है कि पूंजीवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर्श सार्वजनिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी है। पूंजीपति श्रेणी साधनों

के स्वामित्व और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर केवल अपना ही अधिकार समझती हैं परन्तु समाज के विकास को यह बंधन स्वीकार नहीं ।

स्वतन्त्रता कुछ व्यक्तियों का नहीं वल्कि सम्पूर्ण समाज का सामूहिक अधिकार होना चाहिये । समाज के सभी लोगों के लिये समान व्यक्तिगत स्वतंत्रता, केवल समाज के उत्पादक साधनों पर सामूहिक स्वामित्व, अधिकार और सुरक्षा में ही सम्भव है ।

सम्पूर्ण समाज के सामूहिक स्वामित्व से सभी लोगों को मिल सकने वाली व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को ही पूंजीवादी विचारधारा, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आक्रमण वताकर, उस के विरोध में अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा का आन्दोलन खड़ा किये है ।

पूंजीवादी-वर्ग यदि अपनी श्रेणी के विशेष अधिकारों की रक्षा के नाम पर ऐसे आन्दोलन चलाये या ऐसे सामरिक प्रयत्न करे तो जन-साधारण साधनहीनों और उन के वीच शक्ति की आजमाइश से वहुत शीघ्र फैसला हो सकता है परन्तु पूंजीपति श्रेणी अपने विशेष अधिकारों की रक्षा के लिये, समाज के अधिकांश भाग साधनहीनों को अपने स्वामित्व के बन्धनों में जकड़े रखने के लिये, उन का सहयोग पाने के प्रयोजन से अपने विशेष अधिकारों को ही पवित्र 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' का नाम दे रही है ।

यह प्रवंचना कव तक चलेगी ? हम कुछ लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये अपनी—सर्वसाधारण समाज की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कब तक वलिदान करते रहेंगे ?

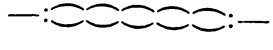

३

# फूलों की बैंहगी

.....जब से रिटायर हुये हैं, हम ने सुवह सैर के लिये जाने का नियम वना लिया है।

एक दिन सुवह-सुवह सड़क पर चले जा रहे थे। सरकार ने नगर को सुन्दर वनाने के लिये सड़क के दोनों ओर सीमेंट के खम्भे वनवाकर, हरियावल और फूल-पत्ती लटकाने के लिये लकड़ी की टोकरियाँ सी लटकवा दी हैं। हम ने देखा, एक जगह किसी वेईमान ने उन टोकरियों को आग लगा कर वरवाद कर दिया था।

सुन्दरता वढ़ाने के प्रयत्न का इस प्रकार विरोध करने वाले पशु-स्वभाव नर-पशु के प्रति मन क्रोध से भर गया। क्रोध में ख्याल आया, जनता की सम्पत्ति को इस प्रकार नष्ट करने वालों को तो चौराहों पर खड़े करके, उन के कपड़े उतार कर उचित स्थान पर सौ-सौ वेंत लगाये जाने चाहिये।

इतना सोच लेने पर भी क्रोध शान्त नहीं हुआ तो सोचा, ऐसे लोगों को सार्वजनिक रूप से सौ-सौ जूते लगाये जाने चाहिये। यह सजा भी काफी नहीं जंची तो सोचा, ऐसे लोगों का मुंह काला करके गधे पर वैठाना चाहिये। मुंह उन का गधे की दुम की ओर हो। गले में तख्ती लटका कर लिख दिया जाय—'सार्वजनिक सम्पत्ति नष्ट करने वाला।' ऐसी सवारी पर उन्हें सब बाजारों में घुमा देना चाहिये ताकि दूसरे लोगों को नसीहत हो। सोचा, पुराने जमाने में कुकर्मियों को दंड सार्वजनिक रूप से इसीलिये दिये जाते थे कि दूसरों को शिक्षा मिले। और भी वहुत सोचा। अस्तु यह निश्चय कर लिया कि ऐसे आदमी को जितना दण्ड दिया जा सके, कम ही है।

उस संध्या वैठक में वातचीत के लिये आ गये लोगों के सामने सुवह देखी घटना की चर्चा की और उस विषय में वहुत देर तक वातचीत होती रही।

विनोद बाबू बोले––"सड़क के किनारे बस-स्टैंड बनाये गये हैं। उन्हें लोगों ने इश्तिहार चिपका-चिपका कर कैसा भोंडा कर दिया है। जिन्हें इश्तहार-बाज़ी करना हो, अपना इंतजाम करें। पब्लिक की चीज़ को बिगाड़ देने का क्या मतलब!"

कृपाशंकर कहकहा लगाकर बोल उठे—"अमा देहाती लोग तो बस-स्टैंड को सरकारी सराय समझ लेते हैं। एक रात हम सिनेमा के दूसरे शो से लौट रहे थे। देखा कि बस-स्टैंड में एक आदमी दो ईंटें रख कर चूल्हा बनाये लुटिया में कुछ राँध रहा था। अपने लोगों में तमीज़ ही कहाँ है। अजी इस देश की हालत बुरी है।"

परसराम बाबू बोले—"हाते की नाली टूट कर मैला और पानी रुका हुआ है। आप म्युनिस्पैल्टी को एक सख्त-सी चिट्ठी लिख दें तभी मरम्मत होगी वर्ना कौन परवाह करता है।"

गुलजारीलाल ने शिकायत की—"चूहों के मारे तंग हैं। हम खुद म्युनिस्पैलिटी में चूहेदान मांगने गये तो जवाब मिला, चूहादान है ही नहीं। हम ने चवन्नी थमा दी होती तो चूहेदान जरूर मिल जाते।"

विनोद बाबू फिर बोल उठे---"लोगों की सड़क किनारे मूत देने की आदत बहुत बुरी है। इस के लिये कानून में सजा है पर पुलिस वाले खयाल ही नहीं करते।"

हम सो जाने के लिये पलंग पर लेट गए। खिड़की के रास्ते हाते से बहुत से मच्छर आ गए थे और सोने नहीं दे रहे थे। नींद आने तक सुबह और सांझ की बातें दिमाग में घूमती रहीं। फिर स्वप्न भी आया तो ऐसा ही ···

हम नित्य की तरह न्यायाधीश की कुर्सी पर थे।

पेशकार ने बताया—अब सार्वजनिक सम्पत्ति नष्ट करने वाले अपराधी का मामला है।

स्वप्न में सुबह घूमते जाते समय देखा दृश्य याद आ गया। अपनी स्थिति के विचार से क्रोध का दमन कर हुक्म दिया––पेश किया जाय।

एक रूखा-सूखा सा आदमी कटघरे में लाया गया। सरकारी वकील ने बताया—"पुलिस केस है। चालान 'क्रिमनल मिसचिफ' के अपराध की दफा ४२६ के अन्तर्गत है। हुजूर, पुलिस की रिपोर्ट है कि यह आदमी सड़क पर फूल लटकाने के लिये सीमेन्ट के खम्भे से लटकायी टोकरी को जला रहा था।

सिपाही नूरजमाल ने इसे चश्मदीद गवाहों के सामने गिरफ्तार किया था। मुजरिम ने अपनी गिरफ्तारी के वक्त अपना जुर्म खुद कबूल किया था।

चालान का गवाह सिपाही नूरजमाल पुलिस चौकी ख्वाबगंज, नम्बर नहीं सौ नहीं, पेश हुआ।

पेशकार ने उसे खुदा को हाजिर-नाज़िर जान कर सही-सही बयान करने की कसम दिलायी।

सरकारी वकील ने सिपाही से बयान दिलवाया--"...उस तारीख को तुम्हारी ड्यूटी ख्वाबगंज के चौराहे पर थी। तुम ने जो वारदात देखी थी अदालत के सामने सच-सच बयान कर दो।"

"हुजूर, हुजूर, उस तारीख को हमारी ड्यूटी ख्वाबगंज के चौराहे पर सुबह दो बजे से आठ बजे तक थी। हम ने सड़क पर लगायी गयी फूल लटकाने की बैंहगी पर लटकी टोकरी में आग जलती देखी तो फौरन वहाँ पहुँचे।"

"आप ने वहां इस मुजरिम को देखा ?"

"जी हुजूर, मुजरिम वहीं खड़ा था। जाये वारदात पर मौजूद लोगों से मालूम हुआ कि मुजरिम ने सरकारी माल यानि 'पबलीक पिरापर्टी' को आग लगायी थी।"

"हवलदार, आप ने उस वक्त मुजरिम से कोई सवाल किया ?"

"जी हुजूर, मुजरिम ने हमारे सामने आग लगाना कबूल किया। हम इसे हिरासत में लेकर पुलिस चौकी पर ले गये और ड्यूटी के हेड कॉंस्टेबल साहब से रपट दर्ज करवा दी।"

"उस वक्त मुजरिम ने क्या कहा ?" सरकारी वकील ने पूछा।

"हुजूर, उस वक्त भी मुजरिम ने अपना जुर्म कबूल किया था।"

हवलदार का बयान खतम हो जाने पर पेशकार ने कहा—"हवलदार नूरजमाल जा सकता है।"

हवलदार ने अपना शरीर अकड़ा कर दायां पांव बायें के साथ पटका। अपनी बांह को कंधे से समकोण पर उठा कर तनी हथेली को मांथे से सम रेखा में करके अदालत को सलूट दिया और कर्तव्य पूर्ति के सन्तोष से चला गया।

गवाह दुलारे पेश हुआ। पेशकार ने उस से गंगाजली उठवा कर, धर्म को साक्षी मान कर सच बोलने की प्रतिज्ञा दोहरवायी।

सरकारी वकील ने बयान देने में गवाह की सहायता की ।

"....उस तारीख बहुत सुबह आपने जो देखा था, अदालत के सामने सब सच-सच कह दीजिये !"

गवाह दुलारे बोला "हुजूर, हम ने देखा, सुजान ये जो सामने खड़े हैं, सो सिलिमेंट की बैंहगी में जो सरकार ने कमचियों के छींके लटकवाये हैं न सरकार, सो उसे इन्हों ने जला दिया । बस हुजूर, यही देखा ।"

सरकारी वकील ने प्रश्न किया––"कठघरे में जो आदमी खड़ा है इसे पहचानते हो ?"

"हाँ हुजूर, यही तो सुजान हैं ।" गवाह ने स्वीकार किया ।

सरकारी वकील ने पूछा—"आप ने खुद अपनी आँखों से इस आदमी को आग लगाते देखा था ?"

"हाँ हुजूर, हम अपने टाट पर से उठे तो मुदा एक टोकरी जलती रही ।"

"आप की इस आदमी से कुछ बातचीत हुई ?"

"अरे नहीं हुजूर, हम ने आग लगाने को नहीं कहा । हम ऐसी बात कभी नहीं कह सकते हैं । हम तो दारोगा साहब और सिपाही लोगों का बहुत डिरात हैं ।"

सरकारी वकील ने पूछा "यह बताओ, आप ने इस आदमी को आग लगाने के लिये मना नहीं किया ?"

गवाह ने हाथ जोड़ दिये - "अरे हुजूर, मना क्यों नहीं किया, जरूर किया । हम ने तो कहा, ससुर यहां बेफजूल लकड़ी क्यों फूंक रहे हो । लकड़ी फूंकना ही चाहते हो तो ले जाकर अपने चूल्हे में फूंको । रोटी ही सिक जायगी ।"

गवाह की बात सुन कर हमें बहुत बुरा लगा पर चुप रहे । न्यायाधीश की कुर्सी के सम्मान के विचार से बोलना उचित नहीं था ।

सरकारी वकील ने पूछा—"तो इस आदमी ने क्या जवाब दिया ?"

"हुजूर, सुजान बोले, यहाँ ससुर आटा कहाँ धरा है जो रोटी सेंक लें । हमारे पेट में आग लगी है, यह ससुर सड़क पर फूल लगायेंगे ।"

सरकारी वकील को गवाह का उत्तर सुहाया नहीं । अदालत की ओर कनखी से देख कर फिर पूछा—"फिर आप ने क्या देखा ?"

दुलारे ने उत्तर दिया—"हुजूर, फिर चौक में पहरे पर खड़े हवलदार

साहव आ गये और उन्हों ने पूछा--"यह सरकारी माल किस ने जलाया ?" सुजान अपनी छाती पर हाथ मार कर वहुत सेखी में वोले, "हम ने जलाया।"

सरकारी वकील ने पूछा—"इस आदमी ने आप के सामने आग लगाना कवूल किया। फिर क्या हुआ ?"

गवाह खाली हाथ दिखा कर बात समाप्त होने का संकेत कर वोला--"सरकार फिर और का होने को था। हवलदार साहव ने दो कंटाप सुजान के कानों पर धर दिये। सुजान चक्करघिनी खाकर सड़क पर जा गिरे। हवलदार साहव ने कमर पर एक वूट दिया। फिर गिरफ्तार करके चौकी पर ले गये।

सरकारी वकील ने घुड़का—"बिना पूछे क्यों बोल रहे हो जी !"

दूसरा गवाह नगीना पेश हुआ। उस की गवाही से दुलारे के बयान का समर्थन हुआ। सरकारी वकील ने उस से और प्रश्न करना अनावश्यक समझा।

गवाहों के बयान समाप्त हो जाने के वाद पेशकार ने अपराधी को सम्बोधन किया—"तुम पर दफा ४२६ के अंतर्गत, अपराध समझे जाने योग्य शरारत से सार्वजनिक सम्पत्ति नष्ट करने का अभियोग है। तुम्हें कुछ कहना है ?"

अभियुक्त ने उत्तर दिया—"हुजूर, हम वेकसूर हैं। हम ने सरकार की या पब्लिक की चीज को नष्ट या वरवाद नहीं किया।"

सफाई के वकील की रूपरेखा सूखा पड़ जाने से वरबाद हो गये गेहूँ के खेत के पौधे की तरह थी। जैसे पौदा पूरा न पनप पाया हो और समय आ जाने पर उस के सिर पर अनाज की बाल निकल कर झुर्री गई हो। वकीलों का पुराना काला कोट उन के शरीर पर ऐसे ढीला लग रहा था जैसे सरोद का गिलाफ वायलिन पर चढ़ा दिया गया हो या वकील का भेष धरे किसी दुर्भिक्ष और रोग पीड़ित व्यक्ति का कार्टून हो। आँखों पर मोटे काँच का गोल फ्रेम का चश्मा था। जान पड़ता था, ऐसे मामले में आत्म-सम्मान रखने वाले किसी वकील ने पैरवी करना स्वीकार नहीं की इसलिये वकील समाज के ऐसे खारजे को ही सफाई के लिये खड़ा कर दिया गया था।

सफाई के वकील ने अपने से डेढ़ वालिस्त ऊंचे, कद्दावर हवलदार के चेहरे की ओर ठोड़ी उठाकर देखा जैसे किसी ऊंट-सवार आदमी से बात कर रहे हों। उन्हों ने जिरह आरम्भ की—"हवलदार साहब, आप ख्वाबगंज के चौक में ड्यूटी देते हैं तो ख्वाब भी देखते होंगे !"

हवलदार ने कुछ न समझ कर परेशानी से अदालत और सरकारी वकील की ओर देखा।

सरकारी वकील ने हवलदार का उत्साह बढ़ाया "हां, हाँ ठीक से जवाब दो।"

हवलदार ने कुछ सकपका कर कहा--"हुजूर, हम समझे नहीं।"

सफाई के वकील ने अपने चातुर्य से संतुष्ट होकर जरा खंखारा और प्रश्न किया—"आप रुवाबगंज के चौराहे पर ड्यूटी देते हैं तो नींद में रहते हैं या जागते रहते हैं?"

"बिलकुल, कतई जागते रहते हैं हुजूर!" हवलदार ने आरोप का विरोध किया।

सफाई के वकील ने पूछा—"जागते रहते हैं? अच्छा, तो क्या देखते रहते हैं? किस बात पर नजर रखते हैं?"

सिपाही ने उत्तर दिया--"साहब, हम यह देखते हैं कि कोई मार-पीट न करे, चोरी-चकारी करके किसी को नुकसान नहीं पहुँचाये। ऐसी हरकत करने वाले को गिरफ्तार किया जाये।"

"बहुत ठीक हवलदार साहब!" सफाई के वकील ने स्वीकार कर प्रश्न किया, "आप ने देखा कि यह शख्स फूल-पत्ती लगाने की टोकरी में फूस भर कर टोकरी को जला रहा था इसलिये आपने इसे गिरफ्तार कर लिया?"

"जी हुजूर, हम ने इसे जाये वारदात पर गिरफ्तार किया" सिपाही ने हामी भरी।

सफाई के वकील जरा उचक कर बोले--"बहुत अच्छा हवलदार साहब, यह फर्माइये कि अगर कोई शख्स किसी आदमी को फूस में रख कर जला दे या जलाने के इरादे से उठा कर ले जा रहा हो तो आप क्या करेंगे?"

सिपाही ने आँख झपक कर खुश्क होठों को तर किया पर कुछ बोल न सका।

सरकारी वकील ने अदालत से प्रार्थना की--"माई लार्ड, इस तरह के सवाल का मामले से क्या ताल्लुक है?"

सफाई के वकील ने अपना प्रश्न बदला--"हवलदार साहब, यह फर्माइये कि अगर आप को इत्तला मिले कि फलां लोगों ने किसी आदमी को उठा कर जला दिया है तो उन्हें आप गिरफ्तार करेंगे या नहीं?"

"जरूर गिरफ्तार किया जायगा साहब !" हवलदार ने निधड़क उत्तर दिया ।

सफाई के वकील ने हवलदार को घूर कर पूछा--"आपने कभी मुर्दे को अर्थी पर बांध कर जलाने के लिये मसान की तरफ ले जाने वाले लोगों को गिरफ्तार किया है ?"

हवलदार सफाई के वकील की मज़ाक की आदत भांप गया था । उस ने करारा उत्तर दिया—"साहब, आप क्या फर्मा रहे हैं ? वैसा आदमी तो मुर्दा होता है, वेमतलब, बेजान !"

सफाई के वकील ने स्वीकृति से प्रश्न किया--"ठीक फरमा रहे हैं आप ! यह बताइये कि अगर आप किसी शख्स को सड़ा हुआ कूड़ा-करकट या बरबादशुदा चीजों या सम्पत्ति को जलाते देखें तो उसे गिरफ्तार करेंगे या गिरफ्तार नहीं करेंगे ?"

सरकारी वकील ने अदालत के सामने आपत्ति की--"माई लार्ड, सफाई के वकील के यह सवाल वेमतलब हैं । इन सवालों का प्रस्तुत अभियोग से कोई सम्बन्ध नहीं । महज गवाह को परेशान किया जा रहा है ।"

हम ने अदालत की निष्पक्षता की रक्षा के लिये सिपाही को उत्तर देने का आदेश दे दिया ।

सिपाही ने साहस से मुनासिब उत्तर दिया--"साहब, बरबादशुदा माल को जलाने में कानून को एतराज़ नहीं है ।"

सफाई के वकील ने गर्दन के इशारे से स्वीकार किया - "बहुत ठीक, बिलकुल सही ।" और कह दिया कि गवाह से जिरह खत्म हो गयी ।

सिपाही नूरजमाल से जिरह हो चुकने के बाद, पहले गवाह दुलारे को जिरह के लिये पुकारा गया ।

सफाई के वकील ने दुलारे को आदर से सम्बोधन किया--"सुनो भैया, जहाँ सुजान ने सड़क किनारे बनाई गयी फूल लटकाने की वैंहगी में आग लगायी उस जगह तुम किस काम से गये थे ।

दुलारे ने आश्वासन पाकर उत्तर दिया—"हुजूर, हम गये नहीं । हम तो हुजूर वहाँ सोवत रहे । हम तो हुजूर, बारह महीना पटड़ी पर वहीं सोवत हैं ।

सफाई के वकील ने विस्मय प्रकट किया–"पटरी पर क्यों सोते हो भैया ?"

"हुजूर हम वहाँ नजीक लकड़ी के टाल पर मजदूरी करते हैं न । गरीब आदमी मकान कहाँ पावे ?

सफाई के वकील ने सवाल किया – "वहां पटरी पर तुम ही अकेले सोते हो या कोई दूसरे लोग भी सोते हैं ?"

"अरे साहब, दस-बारह लोग सोवत हैं । कभी दो कम, कभी दो ज्यादा ।"

वकील ने कान का मैल निकालते हुये सोच कर प्रश्न किया––"सुनो दुलारे भैया, ठीक-ठीक याद करके जवाब देना । कभी बरसात या जाड़े के दिनों में पटरी पर सोने वाले लोगों में ऐसी बात हुई कि सस्ता-सा मकान या छप्पर मिल जाता तो अच्छा होता ?"

"हाँ हुजूर, गरीब और क्या चाहेगा ?"

"अच्छा दुलारे भैया, यह बताओ कभी तुम लोगों में ऐसी भी बात हुई कि सड़क पर फुलवाड़ियाँ लग जायं तो अच्छा हो ?"

सरकारी वकील ने आपत्ति की––"माई लार्ड, ऐसे सवालों का प्रस्तुत अभियोग से क्या सम्बन्ध है ? यह सिर्फ गवाह को परेशान करना है ।"

अदालत ने भी ऐसे प्रश्न पर आपत्ति की ।

सफाई के वकील ने हाथ जोड़ दिये—···"माई लार्ड, इस सवाल का मामले से गहरा सम्बन्ध है । मैं बहुत सवाल नहीं पूछूंगा, सिर्फ दो-दो'तीन-तीन सवाल दोनों गवाहों से पूछने की इजाजत दी जाय । मेहरबानी करके गवाह का उत्तर नोट कर लिया जाय ।"

अदालत की निष्पक्षता के विचार से सफाई के इन व्यर्थ प्रश्नों को पूछा जाने की इजाजत दे दी गई ।

गवाह दुलारे ने उत्तर दिया––"हुजूर, हम फूल-सूल का जानी ? पेट का सूल बहुत है । पहले किसी के मकान-छप्पर होय तो फुलवारी होत है, नहीं तो फुलवारी क्या कपाल पर लगा लेगा ?"

सफाई के वकील ने पूछा––"दुलारे भैया, जब पटड़ी पर सीमेंट की बैंहगी बनायी गयी तो तुम्हें कैसा लगा ?"

दुलारे ने डरते हुये उत्तर दिया हुजूर, बड़े आदमियों की बातें हैं । ऐसी बात में हम लोग क्या बोल सकते हैं ? हुजूर, एक रोज अंधेरे में हमारा तो बैंहगी से टक्कर खाकर कपाल फूट गया । पटड़ी पर जगह कम है । हमें रतौंदी भी आती है ।"

सफाई के वकील ने पूछा—"अगर फूलों की बैंहगियों की जगह आस-पास तुम लोगों के लिये छप्पर बन जाते तो कैसा रहता ?"

दुलारे ने उत्साह से कहा—"अरे हुजूर, आप लोगन को हजार-हजार दुआ-आसीस देते ।"

सफाई के वकील ने प्रार्थना की कि गवाह का उत्तर नोट कर लिया जाय और दूसरा गवाह आये ।

गवाह नगीना से सफाई के वकील ने प्रश्न किया--"भैया नगीना, सच कहना तुम पटरी पर उस समय क्यों गये थे ?',

नगीना ने हाथ जोड़ दिये –"हुजूर, बड़े लोगन के सामने कहने की बात नहीं है ।"

वकील ने उत्साह बढ़ाया--"नहीं, नहीं कहो तुम, डरो मत भैया !"

नगीना ने डरते-डरते कहा—"हुजूर, हम तो नजदीक अपनी कुलिया से निकल के पटरी के किनारे दीवार की तरफ मुंह किये बैठे मूत रहे थे ।"

वकील ने विस्मय से भवें चढ़ाकर पूछा—"वहाँ मूतने क्यों गये थे ? क्या तुम्हारे घर में संडास नहीं है ? क्या मुहल्ले में भी कोई मुतारी या संडास नहीं है ? लोग कहाँ जाकर निबटते हैं ?"

सरकारी वकील ने फिर आपत्ति की--"माई लार्ड, इस प्रश्न का घटना और अपराध से कोई सम्पर्क नहीं है ? यह महज अदालत का समय नष्ट करना है ।"

न्याय के आचरण के विचार से अदालत ने गवाह को उत्तर देने की आज्ञा दी ।

गवाह ने उत्तर दिया--"नहीं हुजूर, हम गरीब लोगों के यहाँ संडास कहाँ ? एक कुलिया भर है । उस में तीन बच्चे और उन की महतारी के साथ वक्त काट रहे हैं । मुहल्ले में भी संडास नहीं है हुजूर ! कोई लोग नाले पर चले जाते हैं, कोई सड़क के किनारे वाली नाली में निबट लेते हैं ।"

वकील ने प्रश्न किया—"अच्छा भैया नगीना, तुम्हारे मुहल्ले के लोग चाहते हैं कि मुहल्ले में एक सांझी संडास बन जाय ?"

नगीना उत्साहित हुआ -- "हुजूर, काहे नहीं चाहते ! सरकार बनवा दे तो सब लोग उन का जस गावैं ।"

वकील ने एकाग्रता के लिये अपना कान खींचते हुये पूछा--"अच्छा नगीना,

तुम्हें कुछ याद है कि तुम्हारे मुहल्ले के लोगों ने कभी मुहल्ले में फुलवारी लगाने की इच्छा की हो ?"

नगीना को प्रश्न अच्छा नहीं लगा--"अरे साहब, लोग अपने बाल-बच्चों का पेट भरने की फिकर करें कि फूल-फुलवारी की बात करें ? बच्चों के लिये दवा-दारू की जरूरत हो जाय तो परेशान हो जाते हैं।"

वकील ने फिर प्रश्न किया--"अच्छा नगीना भैया, सोच कर बताओ कि तुम किसी दिन बाजार आटा खरीदने जाओ और आटे के बजाय गठरी में बेला, चमेली के फूलों के हार बांध कर ले आओ तो तुम्हारी घरवाली क्या कहेगी ?"

नगीना ने आपत्ति की--"हुजूर, ऐसा कैसे हो सकता है ? हमारा दिमाग थोड़े ही फिर गया है हुजूर ! हम क्या धतूरा खाते हैं ?"

वकील ने आश्वासन दिया--"अरे भैया, मान लो किसी दिन कुसंगति में भांग-वांग खा लो और फूल को आटा समझ कर खरीद लाओ तो तुम्हारी घरवाली क्या कहेगी ? बहुत खुश होगी न तुम से ?"

सरकारी वकील ने इस प्रश्न पर बहुत खीझ प्रकट की।

नगीना चहुल से उत्साहित होकर बोल उठा—"साहब, खुस क्या होगी; झाड़ू लेकर मारेगी लेकिन साहब, हम भाँग-धतूरा नहीं खाते हैं। खून की कमाई का पैसा ऐसे फूल-ऊल में बरबाद नहीं कर सकते। हम क्या तमासबीन हैं हुजूर ?"

वकील ने पूछना चाहा—"तुम्हारा मतलब है, तुम्हारी जैसी हालत में अपना पैसा फूल-फुलवारी पर खर्च करना पैसे को बरबाद करना है !"

नगीना विश्वास से बोला--"अरे हुजूर, यह क्या कहने-बताने की बात है ? आप जानते हैं, अदालत सरकार सब जानते हैं। कौन नहीं जानता हुजूर ? जो इतना नहीं जानता उसे पागल समझो।"

सफाई के वकील ने प्रार्थना की कि गवाह का उत्तर नोट कर लिया जाये और उन्हों ने जिरह समाप्त कर दी।

सरकारी वकील अपने पक्ष की दलील पेश करने के लिये उठे और बोले--"·····मुजरिम ने और मुजरिम के वकील ने अभियोग से सम्बन्ध रखने वाली घटना से इनकार नहीं किया है। यहाँ जिस सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रश्न

है मुजरिम ने उसे जलाने के आरोप से भी इन्कार नहीं किया है। उस का यह कहना कि उस ने सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट या बरबाद नहीं किया है, केवल गुस्ताखी है। अगर मुजरिम अनजान बनकर कहना चाहता है कि उसे मालूम नहीं कि सार्वजनिक सम्पत्ति को जला देना, उसे नष्ट कर देना अपराध है तो इस से अपराध का गुरुत्व कम नहीं होता, न वह दंड से मुक्त हो सकता है। आखिर मुजरिम सुजान अपने ख्याल में क्या हरकत कर रहा था ? वह क्या अपने ख्याल में होली जला रहा था ? सफाई के आलिम वकील साहब की हम बहुत इज्जत करते हैं लेकिन उन्हों ने भी न तो सार्वजनिक सम्पत्ति को जलाने की घटना के सम्बन्ध में कोई सन्देह प्रकट किया है और न यह साबित किया है कि सरकार द्वारा फूल लगाने के लिये बनायी गई बैंहगी सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं थी। उन की जिरह बेमतलब और आउट आफ दी प्वाइंट थी।

सरकारी वकील कहते गये –"माई लार्ड, हम यह नहीं समझ सके कि अदालत के सामने यह ज़िक्र करने की क्या जरूरत थी कि मुर्दे के जलाये जाने पर या कूड़ा-करकट और बरबादशुदा माल जलाया जाने पर कानून दखल नहीं देता या यह कि आटा खरीदने के दाम से बेला-चमेली के फूल नहीं खरीदे जाने चाहिये। सफाई के वकील साहब हमें मुआफ फरमायेंगे, यह सब बचकानी बातें हैं। विद्वान नये वकील साहब शायद अभी अदालत के अदब कायदे से नावाकिफ हैं। खैर, मुजरिम का जुर्म की वारदात से इन्कार न कर सकना और सफाई के वकील का उस के बारे में कोई शक पेश न करना जुर्म का इकबाल है। मुजरिम इस जुर्म के लिये सजा का मुस्तहक है, इस के मुतल्लिक कुछ कहने की जरूरत नहीं है। सरकार अदालत का ध्यान एक खास प्वाइंट पर दिलाने की इजाजत चाहती हैं, वह यह कि हमारे विधान के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उस की सम्पत्ति की रक्षा करना सरकार और न्याय का कर्तव्य है परन्तु समाज और जनता की सार्वजनिक सम्पत्ति, जो कि देश की सम्पत्ति है, उस की रक्षा के लिये सतर्क रहना न्याय और सरकार का उस से भी बड़ा कर्तव्य है। सार्वजनिक सम्पत्ति नष्ट करने के अपराध को राजद्रोह और देशद्रोह के अपराध की श्रेणी में रखा जाना उचित होगा।

"माई लार्ड, आज हमारा देश और समाज निर्माण के पथ पर है। देश के निर्माण कार्य में जनता के सहयोग की आवश्यकता है। ऐसे समय देश के

साधनों और सम्पत्ति के नाश की प्रवृत्ति कितनी घातक होगी, इस बात के लिये समाज का सतर्क रहना आवश्यक है। समाजहित के लिये ऐसी प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक है इसलिये सरकार न्यायालय से प्रार्थना करती है कि इस अपराध के लिये ऐसा दण्ड दिया जाय जो दूसरों के लिये उदाहरण स्वरूप हो।"

न्यायाधीश के रूप में हम सोच ही रहे थे कि सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट करने और देशद्रोह करने के अपराध के लिये भारतीय-दण्ड-विधान की धारा ४२६ के अनुसार जितना दण्ड दे सकने का अधिकार न्यायालय को है उस में कुछ भी कमी करने का कारण नहीं है परन्तु न्याय के आधार की रक्षा के लिये सफाई की दलीलें सुन लेना भी आवश्यक था।

सफाई के वकील ने अपने शरीर से बड़े कोट को उतार कर चेंचियाते हुये स्वर में भाषण आरम्भ किया: —

"माई लार्ड, अपराध का निर्णय करते समय अदालत घटना की परिस्थितियों और अभियुक्त की मनोवृत्ति पर प्रभाव डालने वाले कारणों को ध्यान में रखती है। इस अभियोग में भी इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है। घटना की परिस्थितियों पर गवाहों के बयान बहुत अच्छी तरह प्रकाश डालते हैं। जिन स्थानों पर सरकार ने फूल लटकाने के लिये सीमेंट की बैंहगियाँ बनवायी हैं, गवाहों के अनुसार, उन मुहल्लों में लोगों को विवश होकर पटरियों पर सोना पड़ता है। समीप ग़रीबों के मुहल्ले में मकानों में संडासें नहीं हैं और मुहल्ले में सांझी संडास भी—जिसे मनुष्य की प्रथम प्राकृतिक आवश्यकता कहा जायगा - मौजूद नहीं है। जनता का विचार है कि जनता अपना पेट काट-काट कर सरकार को इसलिये देती है कि उन की प्राथमिक आवश्यकतायें, भोजन की कमी, रहने का स्थान, स्वास्थ्य-रक्षा और शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय।"

सफाई के वकील का स्वर ऊंचा हो गया—'माई लार्ड, गवाहों के बयान से यह स्पष्ट है कि उन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके, उन का धन फूलों की बैंहगियों की ऐयाशी पर खर्च करना जनता की दृष्टि में उन के धन को बरबाद करना और जनता के भावों को ठेस पहुंचाना है। क्या यह उक्त घटना के लिये पर्याप्त उत्तेजना नहीं है?"

"माई लार्ड, विद्वान सरकारी वकील ने इस बात की ओर अदालत का ध्यान विशेष रूप से दिलाया है कि देश के सामने निर्माण की समस्यायें और

आवश्यकतायें हैं; उस के लिये जनता सब कुछ सह रही है परन्तु जब सरकार जनता से 'आटा' और 'दवा-दारू' खरीदने के लिये इकट्ठे किये कर से बेला, चमेली के फूल खरीद कर जनता के रास्ते पर हार लटकाना चाहेगी तो जनता सरकार को आसीस न देकर नगीना की घरवाली की तरह झाड़ू ही मारना चाहेगी। गवाह नगीना इतना समझता है परन्तु विस्मय है कि जनता के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली हमारी सरकार यह बात नहीं समझती।

"माई लार्ड, विद्वान सरकारी वकील और अदालत स्वयं इस बात को स्वीकार करेंगे कि राज्य में सड़कों की अवस्था खराब है। सफाई का उचित प्रबन्ध न होने से जहां फूलों की वैंहगियां लगायी गयी हैं, वे स्थान भी गंधा रहे हैं। पैदल चलने वालों के लिये पटरियां टूटी हुई हैं। गलियों में बच्चे हग रहे हैं। सरकार के पास निःशुल्क शिक्षा और इलाज का प्रबन्ध करने के लिये पैसा नहीं है। डाकखाने के लोगों को, रेलवे के लोगों को, स्कूलों के भूखे मास्टरों को मुनासिब वेतन नहीं दिये जा सकते क्योंकि सरकार के पास पैसा नहीं है परन्तु सड़कों पर फूल लटकाने के लिये सरकार के पास पैसा है। अदालत में पेश साधारण बुद्धि के गवाहों के बयान के अनुसार आटा-कपड़ा की जरूरत पूरी न हो सकने पर बेला-चमेली के हारों पर केवल भांग और धतूरे के नशे में ही पैसा खर्चा जा सकता है। गवाहों के अनुसार यह धन की—वह धन चाहे व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक धन हो—राष्ट्रीय सम्पत्ति की बरबादी है। सड़कों पर खड़ी यह फूल लटकाने की वैंहगियाँ जनता के लिये बेकार ही नहीं हैं बल्कि यह जनता की गरीबी और उन की असहाय अवस्था का उपहास भी कर रही हैं।"

सफाई के वकील का स्वर अधिक ऊंचा हो गया—"माई लार्ड, सरकार की शक्ति के प्रतिनिधि हवलदार नूरजमाल और सरकारी कानून के प्रतिनिधि महाविद्वान सरकारी वकील के अनुसार भी बेमतलब और बरबादशुदा चीज को जलाने में कानून दखल नहीं देता। सड़क पर लगायी गयी यह वैंहगियां जनता के धन की बरबादी है, इस बात पर सभी गवाह और समझदार लोग एक मत हैं। सार्वजनिक धन की बरबादी की प्रतीक इस वैंहगी को जला देने की घटना में कानून का दखल नहीं होना चाहिये। अदालत के सामने पेश घटना सरकार द्वारा नष्ट और बरबाद किये गये धन को जला देने के प्रयत्न की घटना मात्र है।

"माई लार्ड, हम विद्वान सरकारी वकील के इस तर्क से पूर्णतः सहमत हैं कि सार्वजनिक धन और सम्पत्ति को नष्ट और बरबाद करना, राष्ट्रद्रोह और देशद्रोह के अपराध की श्रेणी में गिना जाना चाहिये परन्तु माई लार्ड, उस अपराध के लिये दफा ४२६ के अर्न्तगत बरबाद किये हुये सार्वजनिक धन को जलाने का यत्न करने वाले सुजान का चालान नहीं बल्कि सार्वजनिक धन को बरबाद करने वाले राज्य के सार्वजनिक विभाग के मंत्री, राज्य के अर्थ मंत्री और राज्य के मुख्य मंत्री का भी चालान किया जाना चाहिये था। माई लार्ड, जब लोगों को भूख से व्याकुल होकर तारे दिखाई दे रहे हैं, जनता की सरकार उन्हें फूल दिखा कर भुला देना चाहती है।

सफाई के वकील चिल्ला उठे--"माई लार्ड, यह सरकार की कितनी बड़ी हिमाकत है कि वह अपनी ऐसी करतूतों के लिये जनता से प्रशंसा चाहती है और अपनी ऐसी करतूतों में जनता से सहयोग की आशा करती है···।"

सरकारी वकील ने उठ कर टोका--"माई लार्ड, आदेश दें, क्या अदालत में इस प्रकार चिल्लाना, अदालत के प्रति धृष्टता नहीं है ?"

सफाई के वकील और भी गर्जना से बोले--"माई लार्ड, क्या सरकार का ऐसा व्यवहार जनता के प्रति धृष्टता नहीं है ?"

हमारा दिमाग स्वप्न में इतना परेशान हो गया कि नींद खुल गयी।

स्वप्न की बात सुनने वालों में से एक ने टोक दिया "ऐसी अदालत तो सुपने में ही देखी जा सकती है।"

दूसरे बोल उठे—"तो फिर सरकार और जनता का सहयोग भी सुपने में ही होगा ·····।"

—:ↂↂↂↂↂ:—

४

# ताशकंद लेखक मेला

ताशकन्द में आयोजित 'एशिया-अफ्रीकी लेखक कांग्रेस' के लिये भारतीय लेखकों का प्रतिनिधि-मण्डल दिल्ली से ४ अक्तूबर, १९५८ प्रातः नौ बजे चला था। हम लोग दोपहर में काबुल पहुँचे। ताशकन्द जाने वाला यान तैयार था। मैं उस दिन के लिये काबुल में रह गया। शेष साथी चले गये।

दूसरे दिन दोपहर बाद ताशकन्द के लिये रवाना हुआ। इस यान में प्रायः सभी यात्री अफगानिस्तान से शिक्षा के लिये सोवियत जाने वाले नौजवान थे। लगभग एक ही आयु, अठारह-बीस बरस के। सभी शेव किये थे। एक जैसे हल्के सलेटी रंग के सूट पहने थे। उन के कपड़े भी एक ही दूकान के बने लगते थे। वैसे ही, एक ही रंग और वजह के फेल्ट हैट थे। जूते भी एक से। सब सामान बिलकुल नया।

नौजवान यात्रियों को विदाई देने के लिये यान के आंगन की बाढ़ के साथ-साथ भीड़ खड़ी थी। भीड़ के लोग ढीली-ढाली पगड़ियाँ, टखने से ऊँची सलवारें, घुटने निकली पाजामानुमा पतलूनें और लबादे पहने थे। चेहरों पर अक्सर दाढ़ियाँ थीं। वेश-भूषा और रूप से यात्रियों और बिदाई देने आये लोगों में कोई समता नहीं जान पड़ती थी परन्तु यह नौजवान थे उस अफगान भीड़ की सन्तान ही। भीड़ पुरानी पीढ़ी थी और नौजवान नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि थे। वे सरकारी प्रबन्ध से शिक्षा के लिये जा रहे थे।

यान में नौजवानों के दल के अतिरिक्त मैं ही एक-मात्र यात्री था। जैसे आयु में उन से भिन्न था वैसे ही पोशाक में भी इसलिये यान-चारिका (होस्टेस) का ध्यान मेरी ओर गया। खूब गोरी, गुलाबी, छरहरी नवयुवती। खंजर जैसी अधमुंदी, चमचमाती फौलादी धार जैसी आँखें। जाति की कज्ज़ाक। अंग्रेजी

बोल लेती थी। उस ने परिचय कर लिया। बताया—"कल भी कुछ भारतीय लेखक ताशकन्द गये थे।"

"मैं भी उन्हीं का साथी हूँ। हम लोग लेखक कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिये जा रहे हैं।"

"मुझे कहनी-उपन्यास लेखकों से मिलना बहुत अच्छा लगता है।" युवा लड़की मुस्कराकर बोली, "क्योंकि मुझे कहानी-उपन्यास पढ़ने में बहुत रुचि है। लेखक कैसे काल्पनिक जगत बना लेते हैं····" फिर भारत की जलवायु के सम्बन्ध में बात करती रही।

यान की सब से पिछली कुर्सी पर बैठा था इसलिये यान ताशकन्द पहुँच जाने पर सामने के यात्रियों के उतर सकने की प्रतीक्षा में था।

यान-चारिका यान के द्वार से मेरी ओर लपकती हुई आयी—"आइये, कुछ लोग आप की अगवानी के लिये खड़े हैं।"

विस्मय नहीं हुआ, पिछले दिन पहुँच चुके साथियों में से कोई आ गया होगा

यान की सीढ़ी पर ही था, सुना—"नमस्ते यशपाल जी! आप के दर्शन से बहुत प्रसन्नता हुई। आप का सफर आराम से हुआ?"

अपरिचित स्वर था। आँख उठा कर देखा, दो उज़बेक नवयुवतियाँ नमस्कार की मुद्रा में हाथ उठाये थीं। तीन-चार उज़बेक और रूसी युवक भी थे। मेरे हाथ का सूटकेस और एयर-बैग उन लोगों ने ले लिये।

विस्मय हुआ और प्रसन्नता भी हुई। विस्मय इसलिये कि उस से पूर्व के अनुभव से अपना देश क्या, उत्तर भारत की सीमा पार करते ही जिह्वा पर स्वयं ही अंग्रेजी आने लगती थी।

संध्या का अंधेरा हो चुका था। यान के अड्डे से नगर की ओर जा रहे थे। सड़क पर रंग-बिरंगी बिजलियों के बन्दनवार और वृक्षों में लगे रंग-बिरंगे बल्ब देख कर सजावट की ओर ध्यान गया। याद आया, यान के अड्डे पर भी प्रकाश की सजावट थी। बाजारों में प्रवेश करने पर सजावट और भी अधिक दिखाई दी। स्थान-स्थान पर 'स्वागत, 'शान्ति', 'साहित्य-संस्कृति फूले-फलें', 'विश्व-शान्ति की जय' आदि सुभाषित रूसी, चीनी, रोमन, फारसी, हिन्दी, बंगला लिपियों में भी दिखाई दे रहे थे।

'ताशकन्द होटल' ताशकन्द का सब से बड़ा होटल है। सुना कि होटल

को जल्दी-जल्दी तैयार करके लेखक कांग्रेस के अवसर के लिये उस का उद्-घाटन कर दिया गया था। छः मंजिल की काफी बड़ी इमारत है। बाहरी रूप पूर्व-पश्चिम के निर्माण शिल्प का समन्वय है। भीतर नितान्त आधुनिक। सब से नीचे प्रबन्ध तथा आहार-विहार के लिये बड़े-बड़े हाल हैं। अतिथियों के लिये डेढ़ सौ सूट तो होंगे ही। पूरा होटल लेखक काँग्रेस के अतिथियों के लिये जाकड़ था। इस के अतिरिक्त कांग्रेस के अतिथि कई दूसरे स्थानों पर भी ठहरे हुये थे। कह नहीं सकता, एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों के किस देश से प्रतिनिधि नहीं आये थे।

लेखक कांग्रेस का अधिवेशन 'नौवोई रंग-भवन' (नौवोई थियेटर) में था। ताशकन्द होटल की ही भाँति नौवोई रंग-भवन का उद्घाटन भी कांग्रेस के लिये उपयोग से ही हुआ था। होटल और थियेटर के बीच प्रायः फर्लांग भर का मैदान है। मैदान में बहुत बड़ा फव्वारा और फूल-फुलवाड़ी है। होटल से अतिथियों के कांग्रेस भवन तक जाते समय चलने भर का मार्ग छोड़ कर दोनों ओर खूब भीड़ जमा हो जाती थी। भीड़ में मध्य एशिया की परम्परागत पोशाक पहने प्रौढ़ों से लेकर नवयुवक-नवयुवतियाँ और स्कूल के बच्चे भी रहते थे। लेखकों के हस्ताक्षरों की बहुत माँग थी। युवक और विद्यार्थी अपनी संस्था का बैज स्मृति के लिये अतिथियों के कोट पर लगा देना चाहते थे। इन बैजों में प्रायः ही 'शान्तिदूत' कपोत का चिह्न रहता था।

लेखक कांग्रेस या मेले का आरम्भ बहुत सुरुचि और कौतुकपूर्ण ढंग से हुआ। स्वागताध्यक्ष के स्वागत भाषण के पश्चात् भवन के दायें-बायें से, चार-पाँच वर्ष के बालक-बालिकाओं की पंक्तियाँ सम्मुख मंच पर आने लगीं। बच्चों के निकर और बच्चियों के स्कर्ट चटक नीले रंग के थे, कमीज खूब सफेद और सभी के कन्धों पर सोवियत बालचर (पायनियर) के लाल रूमाल। प्रफुल्ल, स्वस्थ, सुन्दर बच्चे बालचरों का झण्डा लिये थे। बच्चों ने मंच पर पंक्तियों में खड़े होकर एक स्वर में उपस्थित सभी राष्ट्रों के लेखकों का अभिवादन करके अनुरोध किया—आप ऐसी रोचक और शिक्षाप्रद पुस्तकें लिखें जिन से संसार भर के बच्चों के विकास में सहायता और प्रोत्साहन मिले और विश्व-प्रेम और विश्वशान्ति की भावना का प्रसार हो। इस के पश्चात भारत की ओर से रानी लक्ष्मीकुमारी और प्रभजोतकौर ने मंगलाचरण करके प्रधान-मण्डल को अर्घ्य भेंट किया।

यह भ्रम हो सकने के लिये काफी अवसर था कि यह लेखकों की कांग्रेस थी या विश्व-शान्ति आन्दोलन का समारोह। विश्व-शान्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रश्न है। लेखकों की कांग्रेस के समय वातावरण में इस प्रश्न की गूंज भर देने का क्या प्रयोजन था? इस प्रश्न के दो उत्तर सोचे जा सकते थे। अतिथि लेखकों के लिये ताशकन्द के नागरिकों द्वारा यह स्वागत और उत्साह का प्रदर्शन था। इस प्रदर्शन में नागरिकों की भावना प्रकट हो रही थी। दूसरा यह कि संसार को युद्ध के ध्वंस से बचाने की मांग न केवल राजनैतिक है बल्कि नैतिक और साँस्कृतिक भी है। वह मूलतः मानवता की माँग है। साहित्य और कला मानवता की भावना की उपेक्षा नहीं कर सकते।

लेखक प्रायः राजनीति से भागता है क्योंकि राजनीति के उद्देश्य चाहे कितने महान हों, उस के व्यवहार में स्पर्धा और कलह के दाँव-पेंच का उपयोग किया जाता है। राजनीति का उपयोग दूसरों पर दवाव डालने के लिये और उन्हें अपने आधीन कर लेने के लिये किया जाता है। लेखक को यह अन्याय जान पड़ता है और वह राजनीति से विरक्ति अनुभव करता है परन्तु शान्ति की माँग से लेखक के विरक्ति अनुभव करने का क्या कारण हो सकता है?

१९५६ में एशिया के लेखकों की कांग्रेस नयी दिल्ली में हुई थी। तब कांग्रेस का प्रभाव 'विज्ञान भवन' में और भारत के कुछ पत्रों के अतिरिक्त प्रायः दिखाई नहीं देता था। यहाँ पूरा नगर कांग्रेस से स्पन्दित था। समारोह राजकीय परिमाण पर दिखाई दे रहा था इसलिये कांग्रेस का आधार और पृष्ठभूमि राजकीय या राजनैतिक समझ ली जा सकती थी परन्तु इस स्थिति और व्यवहार में उस देश की व्यवस्था का भी प्रभाव समझना चाहिये। यह भी अनुमान हो सकता है कि उस देश की सरकार, अपने देश में आयोजित सांस्कृतिक या साहित्यिक प्रयत्न के प्रति अपना दायित्व समझ कर उस में सहयोग-सहायता दे रही थी।

कुछ लोगों को इस कांग्रेस की पृष्ठभूमि में राजनैतिक प्रयोजन और प्रेरणा की गन्ध, कांग्रेस की चर्चा आरम्भ होते ही भारत में भी अनुभव होने लगी थी। शंका की ऐसी मनोभूमि बना देने में सब से मुख्य कारण काँग्रेस का सोवियत के भाग ताशकन्द में आयोजित होना था। कुछ लोग सोवियत की किसी भी बात को राजनैतिक प्रयोजन के बिना मान लेने को तैयार नहीं है। उदाहरणतः ऐसे लोगों की धारणा है कि सोवियत में अन्न की उपज बढ़ाने में

भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति रहती है। उन का विश्वास है कि सोवियत अन्न की उपज अपनी जनता की आवश्यकता की पूर्ति के लिये नहीं बल्कि अपनी पद्धति की सफलता के प्रचार के लिये ही बढ़ाता है। मन में सन्देह बैठ जाये तो उस का निराकरण बहुत सहल नहीं होता।

एक और भी प्रश्न हो सकता है। 'एशिया लेखक कांग्रेस' का आरम्भ और संगठन १९५६ में दिल्ली में हुआ था। क्या उस समय सोवियत या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उस पक्ष का समर्थन करने वालों ने लेखक कांग्रेस के सम्बन्ध में, भारत के राजनैतिक प्रयोजनों के बारे में सन्देह किया था? कांग्रेस आकाश में नहीं हो सकती। उस के लिये पृथ्वी पर कोई स्थान तो चुनना ही होगा। ताशकन्द ने निमन्त्रण दिया था। एशिया में भारत के अतिरिक्त और कौन भू-भाग है जो निष्पक्ष मान लिया जा सकता है? कांग्रेस करने का बोझ सदा भारत के ही सिर पर रहे, यह भी उचित नहीं। सभी लोग तो भारत को भी निष्पक्ष मान लेने के लिये तैयार नहीं होंगे।

राजनैतिक प्रयोजन की आशंका का दूसरा कारण इस बार कांग्रेस को 'एशिया के लेखकों की काँग्रेस' के बजाय 'एशिया-अफ्रीका के लेखकों की कांग्रेस' का नाम दे दिया जाना था। इस नाम परिवर्तन का मतलब एक प्रकार से हो गया—गोरे या पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया और अफ्रीका के देशों का संयुक्त मोर्चा तैयार किया जा रहा है क्योंकि कुछ लोग एशिया और अफ्रीका में कोई साँस्कृतिक अथवा परम्परागत सम्बन्ध नहीं देख पाते। वे एशिया और अफ्रीका में यदि एकता की कोई संभावना देखते हैं तो यही कि दोनों गोरे अथवा पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार रहे हैं। उन का सहयोग उस साम्राज्यवाद के विरोध के लिये ही संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। उपरोक्त विचार में वे मिश्र को विकल्प समझते हैं। मिश्र को तो दिल्ली में संयोजित 'एशिया लेखक काँग्रेस' में भी सम्मिलित किया गया था।

इस तथ्य पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि मिश्र अफ्रीका महाद्वीप का भाग है। कांग्रेस में अफ्रीका महाद्वीप के एक भाग को सम्मिलित करके शेष भाग को त्याज्य समझ लेने की कसौटी क्या हो सकती है? क्या यह तर्क स्वीकार कर लिया जाये कि मिश्र के अतिरिक्त अफ्रीका महाद्वीप के निवासी अनेक कारणों से आधुनिक सांस्कृतिक विकास में पिछड़े रहे हैं या यह कि उन की त्वचा का रंग हमारी अपेक्षा अधिक काला है? गोरे और पश्चिमी

साम्राज्यवाद के विरोध से भय या उस से सहानुभूति का यह प्रभाव क्या एशिया की संस्कृति और परम्परा के अनुकूल है ? एशिया के देशों के लेखकों को विचार-विमर्श के लिये एक स्थान पर सम्मिलित करके, सांस्कृतिक आदान-प्रदान के विचारों या पारस्परिक सांस्कृतिक सहयोग की संभावनाओं को बढ़ाने की इच्छा का प्रयोजन, इन राष्ट्रों की भावनाओं में सांझे सूत्रों को पिरोने का प्रयत्न है। इस में प्रवृत्ति संकोच की ओर नहीं, विस्तार की ओर होनी चाहिये। हजार वर्ष पूर्व हमारा चीन से क्या सम्बन्ध था, इस का तो महत्व है परन्तु इस पूरी आधी शताब्दी में हमारी समस्यायें अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जिन के साथ एक रही हैं, उस की उपेक्षा कर दी जाये; यह व्यवहारिक नहीं जान पड़ता। इस नाते यह उपालम्भ देना कि इस विचार से तो दक्षिण अमरीका को भी ऐसी कांग्रेस में सम्मिलित कर लिया जा सकता है, बहुत बड़ा तर्क नहीं है। दक्षिण अमरीका ही क्यों, उत्तरी अमरीका और सभी राष्ट्रों के लेखक एक साथ बैठ कर, मानवीय मूल्यों के आधार पर, कला-साहित्य और संस्कृति के विकास की चर्चा करें तो वह दिन और भी शुभ होगा।

यह ठीक है कि ताशकंद में कांग्रेस के समय, लेखक कांग्रेस का क्षेत्र विश्व-व्यापी बनाने के सम्बन्ध में कोई बात नहीं की गई परन्तु उस लेखक कांग्रेस का चिन्ह, जिसे सभी लेखक अपने कोट पर लगाये फिरते थे जरूर इस भावना का संकेत करता था। इस चिन्ह में लेखक के श्रम के मूर्त—खुली हुई पुस्तक—पर विश्व का गोला रखा हुआ था और उस के नीचे मैत्री का प्रतीक दो हाथ मुसाफे में मिले हुये थे। क्या इस चिन्ह को संसार भर के सभी राष्ट्रों के लेखकों के पारस्परिक सहयोग की भावना का संकेत नहीं माना जा सकता ? ऐसी भावना में अफ्रीका को क्यों नहीं सम्मिलित किया जायेगा ?

किसी भी बात को राजनैतिक कह देने से ही उसे त्याज्य या निषिद्ध नहीं बना दिया जा सकता। ताशकन्द में हुई कांग्रेस का दृष्टिकोण या प्रयोजन राजनैतिक था या नहीं और उस प्रयोजन में कैसी राजनीति थी, यह तो उस कांग्रेस में हुई चर्चाओं के आधार पर ही निर्णय करना होगा। यदि कला और साहित्य द्वारा मानव-समाज के लिये आत्म-निर्णय की भावना को प्रश्रय देना और मानवता की मुक्ति के लिये बात करना राजनीति है तो नैतिकता और मानवता क्या है ? यदि साहित्य और संस्कृति के नाम पर दमन और घृणा की भावना को प्रश्रय दिया जाये तो उस से आशंका उचित है। मुक्ति और

आत्म-निर्णय की भावना को उत्साहित करने से तो आशंका का कोई कारण नहीं होना चाहिये ।

लेखकों के मन में विभिन्न धारणायें हैं और राजनीति में लपेट लिये जाने की विचित्र आशंकायें भी हैं । राजनीति से दूर रहने की इच्छा का एक अर्थ यह भी समझा जा सकता है कि लेखक सम्मुख प्रश्नों पर विचार करने से और उन विचारों को प्रकट करने से कतराता है । राजनीति से वचने की ऐसी सतर्कता में वह और भी गहरी राजनीति में फंस जाता है ।

ज्वलंत प्रश्नों पर निष्पक्षता संभव नहीं हो सकती । यदि हम किसी प्रश्न पर औचित्य का समर्थन नहीं करते तो हमारा मौन अनौचित्य को सह जाने की अनुमति समझी जायगी । लेखक को इतना भोला और अबोध नहीं मान लिया जा सकता कि उसे तुलनात्मक दृष्टि से उचित-अनुचित की कुछ भी समझ न हो ।

राजनीति से वचने के प्रयत्न में गहरी राजनीति में फंस जाने का उदाहरण ताशकंद कांग्रेस के समय भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के व्यवहार में भी मिला । कांग्रेस के प्रस्तावित संयुक्त मन्तव्य में साहित्य और कला द्वारा मानव के विकास, राष्ट्रों की पूर्ण स्वतन्त्रता और औपनिवेशिक दमन से मुक्ति की भावना को प्रश्रय देने की बात थी । विभिन्न देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों के नेताओं की बैठक कांग्रेस की विषय-निर्धारणी समिति के रूप में हुई थी । इस समिति में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के नेता ताराशंकर बावू भी सम्मिलित थे । उन्हों ने अपने कुछ सलाहकारों की राय से, राजनीति में न फंस जाने की सतर्कता में प्रस्तावित मन्तव्य के 'औपनिवेशिक दमन से मुक्ति' शब्दों पर आपत्ति की और इन शब्दों को मन्तव्य से हटा देने का अनुरोध किया । ऐसे सुझाव पर एशिया और अफ्रीका के देशों के अन्य सभी प्रतिनिधियों को बहुत विस्मय हुआ और उन्हों ने उस संशोधन को सर्व-सम्मति से अस्वीकार कर दिया ।

ताराशंकर वावू ने समस्या भारतीय-प्रतिनिधि-मण्डल के सम्मुख इस रूप में रखी कि भारत का संशोधन अस्वीकार किया जाना भारत का और भारत के प्रतिनिधियों के नेता का अपमान था । ताराशंकर बावू ने अपने भाषण में वार-वार अपनी दयनीय स्थिति का उल्लेख किया कि वे वेशक सफल उपन्यास-कार और कथाकार हैं परन्तु कूट राजनीति उन के वस की बात नहीं है । उन्हों ने दुहाई दी कि उन्हें इस संकट से मुक्ति दी जाये ।

डाक्टर मुल्कराज आनन्द और श्री कृष्णलाल श्रीधरानी ने मन्तव्य से भारत के विरोध के तर्क को स्पष्ट किया। उन दोनों ने 'साम्राज्यवादी दमन से मुक्ति' शब्दों की व्याख्या की कि यह शब्द अमरीका अथवा पश्चिमीय शक्तियों पर छींटाकशी है। भारत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निष्पक्ष है। इस मन्तव्य में सहयोग देना भारत की अंतर्राष्ट्रीय नीति के विरुद्ध होगा।

ताराशंकर बाबू ने विह्वल स्वर में दुहाई दी "ऐसे मन्तव्य में सहयोग देकर हम भारत लौटेंगे तो पंडित जवाहरलालजी को क्या मुँह दिखायेंगे! मैं जब कभी उलझन में पड़ जाता हूं, मुझे कोई मार्ग नहीं सूझता, तब मैं आँख मूँद कर जवाहर के चित्र का ध्यान करता हूं और मेरी उलझन दूर हो जाती है·····"

इस आपन्न अवस्था में कृष्णलाल श्रीधरानी ने प्रस्ताव किया; यदि भारत का संशोधन स्वीकार न किया जाये तो भारतीय प्रतिनिधियों के नेता को समिति की कार्यवाही में इस मन्तव्य के विरुद्ध अपना विरोध दर्ज करवा देना चाहिए और खुले अधिवेशन में यह मन्तव्य प्रस्तुत होने पर भारतीय प्रतिनिधि मंडल को कांग्रेस से वाक आउट कर जाना चाहिये।

जब बात यहाँ तक पहुँची तब मुझे भी कुछ निवेदन कर सकने का अवसर माँगना पड़ा। निवेदन किया––"मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मैं पंडित नेहरू को या भारत सरकार को कोई वचन या शर्त देकर नहीं आया हूँ। नहीं जानता, हमारे कितने लेखक साथी ऐसे बचन देकर आये हैं? मैं समझता हूँ कि हमें परिस्थिति के अनुसार स्वतन्त्रता से विचार करने का और उन्हें प्रकट करने का अधिकार है। कठिनाई यह है कि समिति में भारत की ओर से तारा बाबू के प्रस्ताव का समर्थन कोई भी दूसरा देश नहीं कर रहा है। फिर भी हम लेखक के नाते कल्पना कर सकते हैं कि यह प्रस्ताव लिहाज-मुलाहजे में मान लिया जाये। उस समय हमारा उग्र विरोध करने वाले देशों––अफ्रीका, यू० ए० आर०, इण्डोनेशिया, वीयतनाम, वर्मा, चीन से क्या आशा की जानी चहिये? यदि वे लोग भी अपना विरोध दर्ज करवा कर वाकआउट कर जाने की धमकी दें तो हमारा क्या रुख होगा? हमें अपना मत सब लोगों के सम्मुख रखने और समझा सकने का तो पूरा अधिकार है परन्तु असहयोग की धमकी देने का अधिकार नहीं है। 'वाकआउट' और 'नोट आफ डिस्सेंट' कोई तर्क नहीं है।

"मन्तव्य में किसी भी राष्ट्र का नाम नहीं है इसलिये 'औपनिवेशिक दमन से मुक्ति' की मांग एक नैतिक, सैद्धांतिक और मानवीय प्रश्न है। कोई भी लेखक किसी भी राष्ट्र के दमन का अथवा मानवता के किसी भी भाग के दमन का समर्थन नहीं कर सकता परन्तु औपनिवेशिक दमन से मुक्ति की भावना पर आपत्ति, स्पष्ट ही उपनिवेशों की मुक्ति-कामी जनता की भावना का विरोध और कटु राजनीति हो जाती है। इस प्रश्न को नैतिक या सैद्धान्तिक धरातल पर विचार कर, किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय नीति को बीच में ले आना राजनीति नहीं तो क्या है ?

यह प्रश्न भी बहुत आवश्यक है कि क्या ताराशंकर बाबू का सुझाव भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का सही रूप था ? भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति निष्पक्ष है, इस का अर्थ है कि भारत किसी भी सामरिक-सन्धि में अथवा शीत-युद्ध के गुट्ट में भाग नहीं लेता। इस का अर्थ यह नहीं है कि भारत राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के प्रश्न पर या औपनिवेशिक दमन से मुक्ति का प्रश्न आने पर भी नहीं बोलता। बादुंग में स्वेज़, अल्जीरिया और ईराक के प्रश्नों पर अथवा जहाँ कहीं भी ऐसा अवसर आया, भारत ने मानवीय न्याय को कसौटी मान कर अपना मन्तव्य प्रकट किया है।"

मुझे यह देख कर विस्मय हुआ कि इस चर्चा के समय अपने आप को कम्युनिस्ट कहने वाले लेखक संकोच से चुप बैठे थे मानो अभी-अभी विदाई में आयी बहू सास-ससुर के सामने क्या मुंह खोले ! शायद वे भी साहित्यिक के नाते राजनीति से परहेज़ कर रहे थे।

ताराशंकर बाबू और उन के सलाहकारों के राजनीति से बचे रहने के प्रयत्न के कुछ परिणाम तत्काल दिखाई दिये। इस के फल-स्वरूप भारतीय-प्रतिनिधि-मण्डल को इण्डोनेशिया, अरब, चीनी और विशेषकर अफ्रीका के प्रतिनिधियों से कुछ कड़वी-मीठी आलोचना सुनने को मिली। उदाहरणतः— जब भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल के नेता बोल रहे थे तो लगा पाकिस्तान से आवाज़ आ रही है। जब पाकिस्तानी नेता बोले तो जान पड़ा, यह भारत की आवाज़ है।

अफ्रीका के लेखकों ने तो स्पष्ट ही कहा— "भारत जब तक स्वयं औपनिवेशिक दमन का शिकार था, भारत के विचार और व्यवहार दूसरे थे। विदेशी शासन से मुक्ति मिल जाने के बाद भारत के विचार और भाषा में

परिवर्तन आ गया है ।"

दूसरे दिन ताराशंकर बाबू और उनके सलाहकारों के राजनीति से परहेज का बहुत स्पष्ट परिणाम सामने आया ।

काग्रेस में सहयोग देने वाले राष्ट्रों के लेखकों में व्यक्तिगत परिचय और सम्बन्ध का अवसर दे सकने के लिए लेखकों के प्रतिनिधि-मण्डल परस्पर सहभोज के निमन्त्रण देते रहते थे ।

पहले दिन हम लोगों को चीनी लेखकों का निमन्त्रण था । दूसरे दिन भारत की ओर से अफ्रीका के प्रतिनिधियों को निमन्त्रण दिया गया । प्रतिनिधि मण्डलों के नेताओं की बैठक में अफ्रीका और अरब देश के नेताओं ने भारत के सुझाव पर इतनी उद्विग्नता प्रकट की थी कि भारतीय-प्रतिनिध-मण्डल के प्रबन्धकों ने अफ्रीका के साथियों के प्रति अपनी सद्भावना की घोषणा कर देना आवश्यक समझा ।

सहभोज के समय रिवाज के अनुसार आपसी मित्रता, विश्व के सम्पूर्ण राष्ट्रों की मित्रता और शान्ति कामना के लिये जाम पिये गये । भारत की ओर से सद्भावनायें प्रकट की जा रही थीं । अफ्रीका के लेखक प्राय: मुस्करा कर चुप रह जाते थे ।

डाक्टर मुल्कराज आनन्द ने अपने वाक-चातुर्य से स्थिति को सम्भालने का बीड़ा उठाया । खड़े होकर मुस्कान के फूल बरसाते हुये बोले—"भारत सदा औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध लड़ता रहा है । मानव-मात्र की समता में हमारा दृढ़ विश्वास है । मेरे सम्पूर्ण साहित्य का यही तत्व और विषय रहा है । मैं जीवनभर साम्राज्यवाद से लड़ता रहा हूँ । आफ्रीका की समस्याओं से भारत सब राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक सहानुभूति रखता है । इत्यादि-इत्यादि···।"

डाक्टर मुल्क ने भोज के बीच में अपना आध घण्टे का भाषण समाप्त कर सद्भावना के प्रतिदान की आशा से मुस्कराकर अफ्रीका के लेखकों की ओर देखा ।

अफ्रीका के एक नौजवान लेखक उठ कर बोले—"हम आप की सद्भावनाओं के प्रति अनुगृहीत हैं । भारत की परम्परागत ऊँची संस्कृति से ऐसी ही आशा की जानी चाहिये परन्तु प्रश्न है कि लेखक के नाते साहित्य और कला से हम क्या आशा करें ? साहित्य और कला निष्क्रिय और प्रभावशून्य नहीं रह सकते । वे मानवता और राष्ट्रों की सब से बड़ी समस्याओं के बारे में मौन

नहीं रह सकते । यदि साहित्य और कला, मानव और उस के समाज को जीवन का अवसर पाने में सहायता नहीं दे सकते तो वे निश्चय ही उस के विपरीत दिशा में जायेंगे । हमारे सामने सर्व-प्रथम प्रश्न मानवी अधिकार पाने का और विदेशी राष्ट्रों और साम्राज्यवाद के दमन के पंजे से अपना गला छुड़ाने का है । हम साहित्य और कला का उपयोग इस प्रयोजन से नहीं करेंगे तो किस प्रयोजन से करेंगे ? जो साहित्यिक और कलाकार इन प्रश्नों को महत्वहीन समझते हैं उन की दृष्टि में हमारे राष्ट्र के जीवन का क्या महत्व हो सकता है ?''''' इत्यादि-इत्यादि ।

भारतीय लेखकों ने सलाद में से टमाटर या प्याज के टुकड़े ढूंढ़ने के लिये आँखें झुका लीं ।

प्रसिद्ध भाषा शास्त्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय भी भोज में उपस्थित थे । दो दिन पूर्व जब तारा बाबू ने भारतीय प्रतिनिधियों के सामने मन्तव्य के विषय में समस्या उपस्थित की थी तो सुनीति बाबू ने मेरे विचार का समर्थन किया था । बल्कि उस हलचल की सूचना मुझे उन्हीं से मिली थी । प्रतिनिधि मण्डल के अधिकांश लोग ताशकन्द से बीस मील दूर एक 'डाचा' (स्वास्थ्य गृह) में ठहरे हुये थे । तारा बाबू, मैं और कुछ लोग ताशकन्द होटल में थे । सुनीति बाबू ने मुझे होटल में देख कर कहा—''यह क्या गड़बड़ होने जा रहा है, डाचा चल कर देखना चाहिये ।''

निश्चय ही उस व्यवहार की यह प्रतिक्रिया देख कर सुनीति बाबू को खेद हुआ । वे स्थिति सम्भालने के लिये उठे । उन्हों ने विश्वास दिलाया, साहित्य और कला का सर्वप्रथम लक्ष्य मानवीय अनुभूति और न्याय ही है । उन्हों ने अफ्रीकावासियों के प्रति भारत की भावना की साक्षी में रवि ठाकुर की कविता 'संसार की ओर से अफ्रीका से क्षमा-याचना' के कुछ भाग स्मृति से बता कर कहा––''अफ्रीका ने जो दमन और यातनायें सही हैं उस के लिये रवि ठाकुर ने संसार को दोषी बताया है और उस अन्याय के कारण वे सम्पूर्ण संसार को अफ्रीका के सामने अपराधी समझते हैं । उस अपराध का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उन्हों ने अफ्रीकावासियों से क्षमा माँगी है । रवि बाबू ने भारत की भावना को ही व्यक्त किया है''''

अफ्रीका की एक नवयुवती लेखिका उठ कर खड़ी हो गयी । चिकने, घन-श्याम चेहरे पर उस की बड़ी-बड़ी आँखों के सफेद कोयों में गुलाबी झलक आ

गयी थी। अंगूरी के प्रभाव से मोहक लगने वाला गुलाबीपन नहीं, कुछ दूसरा ही; बोली--"हम साहित्य को केवल दया, करुणा, दैन्य और विलाप का माध्यम नहीं मानना चाहते। न हम अपनी व्यवस्था के प्रति किसी से करुणा और दया की याचना करते हैं। अयाचित दया को हम ठुकरा देते हैं। हमारी अवस्था के प्रति दुख प्रकाश करने की आवश्यकता किसी को नहीं है, न किसी को आवश्यकता है कि हम पर किये गये अत्याचारों के लिये अत्याचारियों की ओर से क्षमा माँगें। हम स्वयं मनुष्य हैं। हम स्वयं अपनी अवस्था पहचानते हैं। यह भी जानते है कि हमें क्या करना है। अपने प्रति अत्याचारों का प्रतिशोध हम स्वयं कर सकते हैं। हमारे प्राणों के साथ हमारा साहित्य और कला, सब कुछ उस के लिये समर्पित है ....."

तारा बाबू, डाक्टर मुल्क और श्रीधरानी ने नवयुवती को समर्थन में शाबाशी देने के लिये उत्साह से तालियाँ बजा दीं; और कर भी क्या सकते थे ? अस्तु....

उपरोक्त अनुभव से यह बहुत अच्छी तरह समझ में आ सकता है कि लेखक राजनीति से बचने के प्रयत्न में पक्ष विशेष की गहरी राजनीति में कितना गहरा फँस जाता है। यह कह देना भी तो बहुत आसान नहीं है कि नैतिकता और राजनीति को पृथक करने वाली सूक्ष्म सीमायें कहाँ हैं ? दिल्ली में संयोजित एशिया लेखक काँग्रेस में अधिकांश समय लेखक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर ही बहस होती रही थी। उस समय तारा बाबू और डाक्टर मुल्क को उस चर्चा पर कोई आपत्ति नहीं थी। क्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रश्न राजनीति की सीमा से बाहर है ?

यह विचित्र धारणा है कि लेखक, लेखक के रूप में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा और दमन के विरोध के लिये तो सतर्क रहे परन्तु राजनीति से अलग बना रहे। इस का अर्थ होगा कि लेखक का व्यक्तित्व समाज, शासन और व्यवस्था के प्रभावों से पृथक रह सकता है या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों से स्वतंत्र वस्तु है या यह कि लेखक नागरिक के रूप में अपने सामाजिक और राजनैतिक दायित्वों को चाहे जैसे निबाहे, उस की कला इन समस्याओं से अछूती रहनी चाहिये। ऐसी समस्याओं के लिये लेखकों का सामूहिक रूप में एकत्र होकर विचार करना शोभा नही देता। वास्तविक स्थिति इस के विपरीत जान पड़ती है। अपने सीमित क्षेत्र में बैठा

हुआ लेखक अपनी मान्यताओं को या अपने विचार के निष्कर्षों को ही पूर्ण सत्य माने रहता है और अपनी कला द्वारा उसी की अभिव्यक्ति करता रहता है। अन्य लेखकों अर्थात् भिन्न परिस्थितियों के प्रभाव में निष्कर्ष निकालने वालों के सम्पर्क में आकर ही वह किसी भी मान्यता के दूसरे पहलुओं को देख सकता है।

यह ठीक है कि ताशकन्द में लेखक कांग्रेस के अधिवेशनों में कला के विधान और तत्वों के विषय में उस प्रकार विचार-विमर्ष नहीं हो सका जैसा कि कला के प्रयोजनों के सम्बन्ध में हुआ। इस का कारण भाषाओं की सीमायें थीं। साहित्य के विधान और तत्वों का विवेचन बिना उदाहरणों के नहीं हो सकता परन्तु कांग्रेस की परिधि में ही इन प्रसंगों पर बातचीत होते जरूर सुनी जाती थी। वहां भी हिन्दी-उर्दू जानने वाले उज़बेक या रूसी मिले। उन्हों ने अपने साहित्य के विषय में तथ्य प्रकट किये और हमारे साहित्य के विषय में बहुत जिज्ञासा प्रकट की।

ताशकंद लेखक कांग्रेस में विचार के परिणाम स्वरूप पांच सुझाव स्वीकार किए गए थे और उन के लिये भिन्न-भिन्न देशों के प्रतिनिधि-मंडलों से समितियां नियोजित की गयी थीं। यह सुझाव संक्षेप में इस प्रकार थे ( १ ) बालकों और किशोरों के भावी विकास की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर, उन के लिये उपयुक्त साहित्य सृजन में विभिन्न राष्ट्रों का कलात्मक और सांस्कृतिक सहयोग प्राप्त किया जाये। (२) आधुनिक साहित्य में महिलाओं के योगदान का मूल्यांकन करके भविष्य में उन के सहयोग के अवसर को बढ़ाया जाये। ( ३ ) सिनेमा और रंगमंच पर साहित्य के प्रभाव को समझ कर, साहित्य द्वारा उन के विकास में सहयोग की सम्भावनाओं पर विचार किया जाये। ( ४ ) नाटक के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों को समझ कर उस के विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उपायों पर विचार किया जाये। (५) सभी भाषाओं से उत्कृष्ट साहित्य का संचय कर उसे अन्य भाषाओं में अनुवाद कराकर प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाये।

इन सुझावों में लेखकों को राजनैतिक गुट्टबंदी में समेट लेने की अपेक्षा साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पर्कों को बढ़ाने और सहयोग उत्पन्न करने की ही भावना जान पड़ती है परन्तु ताशकंद सम्मेलन की सार्थकता उपरोक्त सुझावों को प्रस्तुत कर देने में ही नहीं समझी जा सकती, वह तो उन के कार्यरूप में

परिणित कर सकने पर ही आंकी जानी चाहिये ।

× × ×

लखनऊ से ताशकंद का अंतर और वहां जा सकने का अवसर साधारण बात नहीं है कि शहर को इस बार न देख सकने पर फिर दूसरी बार आकर देख लेने का भरोसा कर लिया जा सकता । कह चुका हूं कि कांग्रेस के स्वागत में नगर की सजावट बिलकुल उत्सव की सी लग रही थी । नित्य संध्या कलात्मक और सांस्कृतिक आयोजन रहते थे । खान-पान की व्यवस्था भी जश्न के अनुकूल थी । जश्न का ही वातावरण बन गया था । बहुत से लेखक अवसर मिलते ही नगर देख सकने के लिये निकल जाते थे । स्थानीय लोगों के जीवन के ढंग और स्तर के प्रति कौतुहल था इसलिये अतिथियों के लिये विराट आयोजन को छोड़ कर मामूली भोजनालयों में भी चले जाते थे । निमंत्रण मिलने पर तीन बार स्थानीय लोगों—स्वितलाना त्रुवनीकोवा, अध्यापक मुहम्जद जानोव और नबी जान के घर भी भोजन किया ।

उज़बेक लोगों का भोजन रूस और योरूप की अपेक्षा पश्चिमोत्तर भारत या पंजाबी भोजन से मिलता-जुलता होता है । गोल-गोल खमीरी चपाती या नान, प्याज और कुछ मसालेदार मांस और तरकारियां । पुलाव उन का विशिष्ट भोजन है । अधिकांश लोग मुसममान हैं । बुजुर्गों में शूकर-माँस और मदिरा से परहेज की प्रथा अब भी है । नौजवान प्रायः इन बातों पर ध्यान नही देते । बूढ़े-बुढ़ियों की पोशाक बहुत कुछ पठानों और अफगानों से मिलती-जुलती है । बूढ़ी स्त्रियाँ लम्बे कुत, कम घेर की सलवारें पहने दिखाई दीं । सिर पर ओढ़नियां भी थीं परन्तु युवक और युवतियाँ बिना विकल्प के औद्योगिक युग की आधुनिक पोशाक में दिखाई दिये । पुरुष कोट-पतलून और स्त्रियाँ फ्राक या स्कर्ट में । पुरुषों में नेकटाई के सम्बन्ध में खास चिंता नहीं थी

समाजवादी क्रांति से पहले उज़बेकिस्तान की स्त्रियाँ साधारणतः कड़े पद में रहती थीं । घर से बाहर निकलती थीं तो कमर से कुछ ऊपर तक छोटा सा बुरका पहने रहती थीं । उज़बेक भाषा में बुरके को परंजा कहते हैं । अब परंजा का रिवाज नहीं रहा है । मैं बहुत उत्सुकता से परंजा पहने स्त्री को खोजता रहता था । दस दिन में दो ही बूढियां परंजा पहने दिखाई दीं ।

परंजा उज़बेक स्त्रियों के लिये कितनी भयंकर यातना रही होगी, इस का अनुमान बुरके के परिचय से नहीं हो सकता। परंजा सूत या रेशम से नहीं, घोड़े की पूंछ के बालों से बुनकर बनाया जाता था। गैर मर्द को स्त्री का चेहरा दिखायी दे जाना स्त्री का बहुत बड़ा अपराध था। प्रायः एक ही परंजा स्त्री के जीवन के लिये पर्याप्त होता था। अब नमूने के तौर पर परंजा देखना हो तो ताशकन्द में काफी खोज और प्रतीक्षा के बाद ही अवसर मिलेगा। आधुनिक नवयुवतियों में तो परंजे का कोई प्रश्न ही नहीं है।

अध्यापक मुहम्मद जानोव के घर भोजन के लिये पाकिस्तान के कवि हफीज़ जालंधरी और दिल्ली के कवि तावाँ के साथ गया था। अध्यापक की पत्नी और हिन्दी-उर्दू में रुचि रखने वाले दो अन्य युवक और युवतियाँ भी थे। उन लोगों ने रूसी और उज़बेक भाषाओं में अनुवादित रवि ठाकुर की कहानियाँ भी पढ़ी थीं। प्रेमचंद, कृष्णचंदर, यशपाल और दूसरे लेखकों की कहानियों को उन्हों ने मौलिक भाषाओं में पड़ा था। हम लोगों को घेर कर भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में वे लोग यों निस्संकोच तुलनात्मक प्रश्न पूछ लेते थे कि उत्तर देने में असुविधा अनुभव होती थी।

मुहम्मद जानोव की शिष्या, यूनीवर्सिटी की विद्यार्थी चमन ने अपने साथियों के अनुरोध पर एक गज़ल गाकर सुनाई।

'ऐ दिल मुझे बता दे तू किस पे आ गया है।
वह कौन है जो आकर आँखों पे छा गया है।

सिर पर कढ़ी हुई टोपी पहने, लम्बी-लम्बी दो चोटियाँ लटकाये, गोरी-गुलाबी चमन को मैं विस्मय से देख रहा था। हिन्दी में भारतीय गाने को ठीक ताल-सुर और उच्चारण से ही नहीं बल्कि भावपूर्ण तन्मयता से वह गा रही थी। जान पड़ता था कोई भारतीय लड़की ही रंग-मंच पर उज़बेक लड़की की भूमिका में गा रही हो। गज़ल के भाव को समझे बिना उतनी तन्मयता संभव नहीं हो सकती।

चमन से पूछे बिना नहीं रह सका—"यह गज़ल कहां से सीखी ?"

चमन ने सलज्ज मुस्कान से बताया--"सीलोन रेडियो से। क्यों, ठीक नहीं गा सकी ?"

"मैं इस से बेहतर की कल्पना नहीं कर सकता।" चमन को उत्तर दिया।

"आप तो हमारा मन रखने के लिये कहते हैं।" चमन को विश्वास नहीं हो रहा था।

ताशकन्द काफ़ी बड़ा शहर है लखनऊ से दूना और दिल्ली से आधा। हाँ, हम लोगों में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग दिल्ली को प्रायः ही ज़वान मरोड़कर डेल्ही या देल्ही पुकार लेते हैं। उज़बेक और रूसी शब्द दिल्ली कहते हैं।

नबी जान के यहाँ भी निमंत्रण पाकर सहभोज के लिये गये थे। उस की पत्नी रूसी सुन्दरी है। नबीजान के घर में उस की पत्नी और उस की आधुनिक बहन तो भोजन पर हमारे साथ बैठीं परन्तु घर की प्रौढ़ायें सामने नहीं आयीं। रानी लक्ष्मीकुमारी चूड़ावत और पंजाबी कवयित्री प्रभजोतकौर भी हमारे साथ थीं। वे दोनों घर की प्रौढ़ा स्त्रियों से मिल सकने के लिये भीतर गयीं।

नबीजान ने अपने प्रौढ़ अब्बाजान (पिता) से भी परिचय कराया। वे सिर पर चिपकी हुई टोपी पहने थे। मूँछें होठों में न जा सकें इसलिए शरह की विधि से कतरी हुई थीं, ठोढ़ी पर खसखसी दाढ़ी।

नबी के अब्बाजान ने हम लोगों की सेहत के लिये जाम का प्रस्ताव किया। नबी ने शेम्पेन तुरन्त प्यालों में भर दी।

अब्बाजान ने चाय का प्याला ले लिया।

मैंने जरा मजे के लिए अनुरोध किया "अब्बाजान भी शैम्पेन लें।"

प्रौढ़ के साम्प्रदायिक संस्कारों के कारण उन के चेहरे पर दुविधा की छाया आ गई।

नबी ने पिता की ओर देखा—"अतिथि का अनुरोध है।"

प्रौढ़ दो धर्मों के बीच फँस गये थे। इस्लामी धर्म-संस्कार के अनुसार मदिरा निषिद्ध है परन्तु उज़बेक सामाजिक धर्म के अनुसार अतिथि के अनुरोध की अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

नबी के यहाँ मैंने चमन से भारतीय गीत सुनने का जिक्र किया।

"तो आप हमें भी कुछ सुनाने का मौका दीजिये।" नबी बोला।

"जरूर, जरूर सुनाइये!" सम्मिलित अनुरोध हुआ।

नबी ड्रेस सूट पहने था। तुरन्त स्टेज की अदा से खड़ा हो गया और इशारों से भाव बता कर गाने लगा—

"राधे, मति जइयो जमुना के तीर···"

वह स्टेज की अदा से भाव-मग्न होकर गा रहा था। नबीजान ने भी गीत सीलोन रेडियो से ही सीखा था। उसे शिकायत थी, दिल्ली से उतना सही-साफ सुनाई नहीं देता।

अनेक देशों की संस्कृतियों, परम्पराओं, संस्कारों और अनुभूति के अभ्यासों में इतने भेद हैं कि एक-दूसरे को पूर्णतः हृदयंगम कर लेना बहुत कठिन होता है परन्तु नबी जमना किनारे बजती बांसुरी पर मुग्ध ब्रज-बालाओं की भावना में ऐसे समा गया था मानो उन्हीं का उत्तराधिकारी हो। रंगमंच पर भी भावना को अपनाये बिना भूमिका को सफलता से नहीं निबाहा जा सकता।

नबी के यहाँ मेज पर पुलाव, नान, समोसे, कबाब, केक, सेव, अंगूर और अंगूरी की बोतलें और गिलास इस तरह लदे हुये थे कि मन बार-बार सहम जाता था कि कोट की आस्तीन छूकर कुछ गिर न पड़े।

नबी के दूसरे मित्र भी अतिथियों के साथ सहभोज के लिये ड्रेस सूट पहन कर आये थे। कलफ लगे सफेद कालर और कफ।

अतिथि प्रायः खुश्क चीजें ही ले रहे थे। नान हाथ से तोड़ लेते थे। समोसा भी हाथ से खा रहे थे। कबाब काँटे से उठा लेते थे। पुलाव की बारी आई तो लोग काँटे और चम्मच उठाने लगे।

मैंने पूछ लिया—"रूसी लोग तो सदा काँटे-छुरी-चम्मच से ही खाते हैं पर सुना है, उज़बेकिस्तान में कभी-कभी हाथ से खाना भी बुरा नहीं समझा जाता ?"

"कान्याश्नो ! कान्याश्नो !" (अवश्य, निस्संदेह) नबी और उनके साथी बोल उठे। उन्हों ने आस्तीनें चढ़ा लीं और पुलाव को उंगलियों में लेकर खाने लगे।

नबी ने बताया—"हम लोग साधारणतः सफाई के विचार से काँटे-चम्मच से ही खाते हैं परन्तु उत्सव के अवसर पर पुलाव हाथ से ही खाने का रिवाज है। उसी में मजा आता है।"

नबी की पत्नी रूसी सुन्दरी ने भी देखा-देखी, मेहमानों का साथ देने के लिये उंगलियों से ही पुलाव खाना चाहा परन्तु उस से बन नहीं पड़ा। पुलाव का ग्रास समेट कर उंगलियों के चम्मच में मुख की ओर उठाया तो चावल उंगलियों के बीच से प्लेट पर गिर पड़े। जो दो-चार दाने मुख तक पहुँचे मुख के भीतर न जाकर नाक के नीचे होंठ पर लग गये। बेचारी झेंप से

लाल हो गई। उसने चम्मच ले लिया।

१२ अक्तूबर को रविवार था इसलिये छुट्टी थी। हमारे यहाँ तो कांफ्रेंसों और कांग्रेसों के लिये समय निश्चित करते समय रविवार के दिन कार्यवाही कर सकने का भरोसा किया जाता है। उन देशों में रविवार के दिन कान्फ्रेंस और कांग्रेस की भी छुट्टी रहती है। रविवार के दिन कांग्रेस में आये अतिथियों के लिये नगर से बीस मील दूर एक संयुक्त कृषि क्षेत्र की सैर के लिए जाने का कार्यक्रम था। अधिकांश लोग वहाँ ही चले गये थे।

ताशकन्द लेखक कांग्रेस में जाने से पूर्व दो बार सोवियत हो आया था। लौटने पर लोग आँखों देखा हाल पूछते थे। अधिकतर प्रशंसा ही सुन कर चेतावनी दे देते थे – वहाँ जाने वालों के प्रोग्राम वे लोग स्वयं बनाते हैं। वे लोग जो कुछ दिखाना चाहते हैं, यात्री उस से भिन्न कुछ नहीं देख पाते। मैं संयुक्त कृषि क्षेत्र पहले देख चुका था इसलिये उस दिन नहीं गया था। कवि फैज़ और हफीज़ भी वहाँ नहीं गये थे। हम तीनों प्रोफेसर द्याकोव और च्यर्नीशेव के साथ नगर घूमने चले गये। द्याकोव और च्यर्नीशेव दोनों ही उर्दू-हिन्दी खूब अच्छी तरह बोल लेते हैं। च्यर्नीशेव भारत में रह कर भी हिन्दी सीख गये हैं। पुराना ताशकन्द देखने की इच्छा थी। जैसे नयी दिल्ली के साथ पुरानी दिल्ली है, लखनऊ के साथ चौक है वैसे ही नये ताशकन्द के साथ पुराना ताशकन्द भी है।

पुराने ताशकन्द की ओर नोवोई सड़क जाती है। सड़क का नाम एक उज़बेक कवि के नाम पर है। सड़क किनारे लगातार बस्ती हैं। एक पुल पार कर रहे थे। वृद्ध प्रोफेसर द्याकोव ने बताया, इस पुल के पार पुराना ताशकन्द शहर है। ज़ार के समय उज़बेकिस्तान रूसी साम्राज्य के आधीन प्रदेश था। यहां सब अफसर रूसी होते थे। इस पुल के इस ओर कोई उज़बेक मकान बना कर या मकान किराये पर लेकर नहीं रह सकता था। उस समय पुराने ताशकन्द में मस्जिदों और मदरसों के अतिरिक्त पक्की ईंट या पत्थर के मकान बहुत कम थे।

अब पिछले कई दिनों से नये ताशकन्द में अधिक संख्या उज़बेक लोगों की ही दिखाई दे रही थी। नहर के पार खूब बड़ी-बड़ी तीन-चार मन्ज़िल की इमारतें बन चुकी हैं। ताशकन्द विश्वविद्यालय का नया विशाल भवन भी यहाँ

ही बना है।

बड़ी-बड़ी इमारतें अधिकांश में मैदान जैसी चौड़ी सड़क के एक ही ओर थीं। दूसरी ओर कच्चे मकानों की बस्ती थी। बस्ती बहुत घनी नहीं थी। जगह-जगह चाय और कबाब की छोटी-छोटी दुकानें थीं। ताशकन्द की विराट रंगभूमि ( स्टैडियम ) भी इसी भाग में बनायी गयी है। हम लोग रंगभूमि देख कर लौट रहे थे। सड़क के दोनों ओर कच्चे नीचे-नीचे मकान थे। प्रोफेसर याकोव से पूछा--"इन मकानों के भीतर का ढंग देखने के लिये किसी मकान के भीतर जा सकते हैं ?"

"क्या एतराज हो सकता है ? पूछ कर देखते हैं" प्रोफेसर ने उत्तर दिया और एक मकान के सामने खड़े प्रौढ़ से कुछ बात कर कहा, "आइये, इसी मकान में चलें।"

प्रौढ़ रूई भरा कोट और बिना क्रीज़ की कुछ मैली, सफेद सूती पतलून पहने था। सिर पर चिपकी टोपी पर कपड़े का टुकड़ा पगड़ी की तरह लपेटे था। प्रौढ़ ने विनय से झुक कर दोनों बाहें बढ़ा कर स्वागत का संकेत किया और पीछे हट कर हम लोगों को द्वार में मार्ग दिया।

मकान बिलकुल पंजाब के अच्छे खाते-पीते किसान या गाँव के खत्री के मकान के ढंग का था। पहले ड्योढ़ी की बड़ी-सी कोठरी। ड्योढ़ी पर मोटे भारी किवाड़। ड्योढ़ी की कोठरी के भीतर का दरवाजा आँगन में खुलता था। शायद पर्दे के विचार से ड्योढ़ी के बाहर और भीतर के दरवाज़े आमने-सामने नहीं थे। सड़क पर से नज़र आँगन में नहीं जा सकती थी। आयताकार आँगन, लगभग आठ हाथ चौड़ा और सोलह हाथ लम्बा। दीवारों पर चूना पुता हुआ था।

हमारे कदम रखते ही आँगन में बैठी, काम में व्यस्त दो युवतियाँ चौंक कर खड़ी हो गयीं। प्रौढ़ ने आश्वासन दिया--"मेहमान हैं।"

स्त्रियाँ कोठरियों में चली गयीं। दोनों फ्राक पहने थीं। एक तंग मोहरी का पाजामा भी पहने थी। सिर पर और पाँव में कुछ नहीं था।

आंगन की दीवारों पर अंगूर की बेल चढ़ी हुई थी। फसल उतर चुकी थी और बेलें छाँट दी गई थीं। आँगन में बिना तकिये की एक बेंच और दो काम-चलाऊ भारी-भारी कुर्सियां थीं। कोने में ताँबे और आलमीनियम के दो-चार बर्तन थे।

प्रौढ़ हमें दाहिने हाथ की ओर कोठरी में ले गया। कोठरी बैठक के ढंग से सजी हुई थी। सोफा, मेज, कुर्सी कुछ नहीं था। नमदे और सस्ते कालीन विछे हुये थे। एक दीवार पर काँच में मढ़ा हुआ काबा का काल्पनिक लिथो-प्रिंट का चित्र लगा हुआ था। दूसरी दीवार पर घर के किसी आदमी का धुंधला पड़ गया फोटो था।

प्रौढ़ ने हमें काबा के चित्र की ओर ध्यान देते देख कर, दीवार में बने ऊँचे ताक में से कपड़े में लिपटी एक पुस्तक उठा ली। पुस्तक को चूम कर माथे से लगाया और कपड़ा हटा कर मेरे हाथ में दे दी। समझ गया, कुरान शरीफ की जिल्द होगी। मैंने भी पुस्तक को आदर से चूम कर माथे से लगाया। खोल कर देखा अरबी लिपि थी। पुस्तक फैज़ की ओर बढ़ा दी। उन्हों ने भी पुस्तक के प्रति आदर प्रकट किया। पढ़ने का यत्न कर कहा—"काफी पुराना नुस्खा है।" पंजाबी में बोले, "यह इसे पढ़ तो क्या पाता होगा, भक्ति में रखे हुये है।"

प्रौढ़ नहर विभाग में काम करता था। उस का जवान बेटा किसी दुकान पर काम कर रहा था। एक युवती कोठरी में आई तो मुंह धोकर कंघी करके फ्राक बदल लिया था। दोनों हाथों में बड़ी-बड़ी तश्तरियों में नान, कुछ बासी केक, शकरपारे और सेवियाँ लाकर रख गयी। फिर आयी तो अंगूर और सेव दे गयी। फिर आयी तो बड़े थाल में बड़ी सी चायदानी और बिना हैंडल के प्याले ले आयी। प्रौढ़ की आमदनी पूछे बिना ही उस की सन्तुष्ट आर्थिक अवस्था का अनुमान हो सकता था।

बाहर निकल कर प्रोफेसर याकोव से पूछा—"आर्थिक दृष्टि से इस आदमी की कैसी स्थिति होगी?"

"इस की स्थिति काफी अच्छी है। कुछ इस की अपेक्षा गरीब भी हो सकते हैं, कुछ अच्छी हालत में भी हो सकते हैं।" प्रोफेसर ने उत्तर दिया।

ताशकन्द की झील खूब प्रसिद्ध है। यह झील प्रकृति की देन नहीं, मनुष्य की अपनी सूझ और श्रम का फल है। नगर के निर्माण के समय यह सोच लिया गया था कि मिट्टी यथा-सम्भव एक ही स्थान से खूब गहराई तक खोद कर ली जाये। बाद में उस स्थान पर जल भर कर चारों ओर सुन्दर फुलवाड़ी लगा दी गई है। एक मील भर से कुछ अधिक लम्बी और आध मील चौड़ी झील जल-विहार के लिये बन गयी है।

पिछली बार ताशकन्द आया था तो संध्या समय उस झील को देखने गया था। उस समय वहाँ बहुत भीड़ थी। ठेलों पर शरबत, आइसक्रीम और समोसे विक रहे थे। लोग झील में तैर रहे थे और नौका-विहार भी कर रहे थे। इस बार फैज़ और हफीज़ के साथ दोपहर में गया। अक्तूबर का मास, आकाश में जरा बदली और हवा भी थी इसलिये प्रायः सूना था।

हम लौट रहे थे। मैं च्यर्नीशेव से रेणु के 'मैला आंचल' के सम्बन्ध में बात करता जरा पीछे रह गया था। कुछ मैले से कपड़े पहने एक आदमी ने च्यर्नीशेव को पुकार लिया। मुझे भी रुक जाना पड़ा।

च्यर्नीशेव उस आदमी के साथ ही आगे बढ़ आये। मुझे बताया—"यह सड़क बनाने वाली यूनियन का आदमी है। पूछ रहा है, क्या आप भारतीय लेखक हैं? आप से कुछ बात करना चाहता है।"

मेरे कोट पर लेखक कांग्रेस का बैज लगा हुआ था। पहचान लेना कोई विस्मय की बात नहीं थी।

सड़क बनाने वाली यूनियन के मजदूर ने हाथ मिला कर अपना परिचय दिया। उस का नाम गाज़ीज़ोविच नरीमान गुफ्फारोव था।

गुफ्फारोव ने च्यर्निशोव द्वारा मुझ से बात की—"मैं एक मामूली मजदूर हूं। आप महान देश भारत के बहुत बड़े लेखक हैं। मैं दो शब्द कहना चाहता हूं। हम लोग भारत के महान नेता जवाहरलाल नेहरू का और भारत का बहुत आदर करते हैं और उन्हें बहुत बड़ा समझते हैं परन्तु भारत देश और उस देश के लोग हमारी दृष्टि में इसलिये बड़े नहीं हैं कि वहां संसार का सब से ऊँचा पर्वत है या वहां बहुत बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, सुहावना मौसम रहता है और उस देश की जन-संख्या बहुत अधिक है बल्कि इसलिये कि भारत के महान नेता जवाहरलाल नेहरू ने और उस देश की जनता ने विश्व-शांति की रक्षा के प्रयत्नों में बहुत बड़ा सहयोग दिया है। हम लोग अंतर्राष्ट्रीय युद्धों के परिणाम और उस की विभीषिका से परिचित हैं इसलिये आप के देश के शांति-रक्षा के प्रयत्नों के प्रति आप के देश के प्रति और आप के नेताओं के प्रति अपना प्रेम, आदर और कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं। मैं एक बहुत मामूली मज़दूर हूं। बड़े लेखक से मेरी एक प्रार्थना है। जब आप अपने देश में लौटें, इस देश के मज़दूरों की ओर से भारत के प्रधान मंत्री नेहरू को शांति रक्षा के प्रयत्न के लिये हमारी ओर से धन्यवाद और बधाई का संदेश दे दें।

यदि उन से मिल न सकें तो एक पत्र द्वारा ही हमारी बात उन तक पहुंचा दें।"

गुफ्फारोव के ढंग और उस की बातों ने मन को छू लिया। उसे आश्वासन दिया—मैं राजधानी से तीन सौ मील दूर लखनऊ में रहता हूं। यों भी मेरे जैसे साधारण लेखक के लिये नेहरू जी से मिलना कुछ कठिन होगा। मैं पत्र द्वारा तुम्हारा संदेश उन तक अवश्य पहुंचा दूंगा।

कहानी-उपन्यासकार तो कल्पना-जीवी होता है। कल्पनायें संगत-असंगत सभी तरह की हो सकती हैं। भारत में सुना था कि समाजवादी देशों में सर्वसाधारण लोगों को विदेशियों से बात करने का अवसर नहीं दिया जाता। केवल सरकार के सिखाये हुये विश्वस्त लोग ही विदेशियों से मिलते हैं। क्या गुफ्फारोव भी ऐसा ही सिखाकर, मेरी तलाश में भेजा गया आदमी होगा ?

मन में संदेह हो तो ऐसी कल्पना पर भी विश्वास कर लिया जा सकता है। मान लें यह आदमी सिखाकर भेजा गया होगा परन्तु ऐसी बात सिखाने में वदनीयती या धोखे का क्या प्रयोजन हो सकता है···?

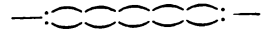

# ५

## अंगूरी की बोतल के मोल

बात कहने के ढंग पर बहुत निर्भर करता है। कहने के ढंग या अभिव्यक्ति की शैली में शिल्प आ जाने पर ही तो वह साहित्य बन जाता है।

नसीहत शैली और शिल्प से दी जाये तो कहना ही क्या। उपालम्भ और गाली भी शैली और शिल्प से दी जाये तो क्रोध नहीं, मुस्कान आ जाती है। ऐसी बातें बरसों तक स्मृति में जमी रहती हैं। उन से सुनने-सुनाने वाले दोनों का संतोष होता है। वे बातें मौखिक साहित्य बन जाती हैं। प्रभाव उन का ऐसा होता है कि व्यक्ति के अभ्यास को भी बदल देती हैं। ऐसी कुछ बातें याद में बनी हैं। आज प्रातः ही एक ऐसी बात सुनी थी।

माँगने वाले ने द्वार पर आकर पुकार लगायी--"भगवान सदा सुखी रखे। माई जी, दो रोटी का आटा मिल जाये।"

मालकिन ने कह दिया—"बाबा, आटा तो बहुत महंगा हो गया है।"

माँगने वाले ने धैर्य न छोड़ा, बोला—"तो माई जी, एक चवन्नी ही दिला दो।"

"चवन्नी ?" मालकिन की भवें उठ गयीं, "कुछ और माँगा होता !"

"माई जी, आप ही तो कह रही हैं, आटा बहुत महंगा हो गया है।"

मालकिन हंसी नहीं रोक सकीं, बोलीं—"अच्छा, इस उत्तर के लिये तो चवन्नी ले ही जाओ।"

× × ×

सन् ३५' में कांग्रेसी सरकार बन जाने से सन् ३८' में जेल से मुक्ति मिल गयी थी। पंजाब में तब भी अंग्रेजी शासन की समर्थक 'यूनियनिस्ट सरकार' थी इसलिये वहाँ मैं अवांछित था। लखनऊ में ही बस जाना पड़ा।

लखनऊ में बसे दो ही वर्ष हुये थे। इतनी जल्दी लखनऊ का शील-शिल्प और लहजा कैसे सीख सकते थे। शहर में कुछ सज्जनों और परिवारों से आत्मीयता हो गयी थी। कई लोगों से पाये सौजन्य और सहायता के कारण उन के प्रति अनुग्रही थे।

एक दिन ऐसे ही एक परिवार के बारे में समाचार मिला कि उन की विवाहिता बेटी कई दिन से रोग-शैया पर थी। मिजाज़-पुर्सी के लिये जाना बहुत आवश्यक था। व्यस्तता में सप्ताह भर अवकाश नहीं बना तो याद भी नहीं आया। याद आया तो बहुत ग्लानि अनुभव हुई।

रानी काम से 'गँज' जा रही थीं। कहा—उधर भी होती आना। मम्मी से ही तो मिलना होगा। तुम्हारा हो आना काफी है।

रानी लौटी तो प्रसन्न नहीं थी। पूछा तो कुछ उद्विग्नता से बोलीं – "मैं गयी थी। मम्मी ने तो अजीब ढंग से बात की।"

'क्यों, क्या हुआ ?" मुझे विस्मय हुआ।

"मैंने मम्मी से पूछा -- सुना है, शम्मी की तबीयत कुछ खराब थी ? वह एक दम नाराज़ होकर बोल उठीं--क्या ? किस के दुश्मनों की तबीयत खराब है ?"

हंसी आ गयी। बताया--"ओफ यह तो यहाँ के भले लोगों का सलीका है। किसी अज़ीज़ की बीमारी या तबीयत खराब होने की बात ज़बान पर नहीं लायी जानी चाहिये। बीमारी या तबीयत खराब होने की चर्चा दुश्मन पर डाल कर ही की जानी चाहिये। तुमने 'शम्मी बीमार' कह दिया तो मम्मी का मन दुख गया।"

"मैं तो सहानुभूति ही प्रकट करने गयी थी, क्या वे नहीं जानती थीं ?"

"जरूर जानती थीं परन्तु सहानुभूति पाने के लिये भी अपनी बेटी के नाम के साथ बीमारी का संपर्क नहीं सह सकतीं। बात करने का ढंग भी तो होता है। बीमारी दुश्मन पर डाल कर बात करने से ममता की कैसी छलक अनुभव होती है ?"

× × ×

प्राग जाने के लिये ज्यूरिच से यान में बैठा था।

यान की सीढ़ियों के ऊपर द्वार में खड़ी यान-चारिका ने हाथ मिलाकर बहुत आत्मीयता की मुस्कान से स्वागत किया—"प्लीज !" और पूछ लिया, "हाओ डू यू डू ? (आइये, हाल-चाल ठीक है न ? )"

उत्तर में मुस्कराने की कोशिश की। सोचा, क्या पहले भी किसी यान में इस से भेंट हो चुकी है ? पर वह तो सभी का स्वागत वैसी ही प्रफुल्लता से कर रही थी। क्या सभी से पहले कहीं भेंट हो चुकी होगी ?

यान में कुर्सी पर बहुत सुन्दर छपे हुये कागज पड़े थे। इन पर्चों में कुछ व्यवहारिक सूचनायें रहती हैं। उठाकर पढ़ने लगा—

'यान-चारिका आप की यजमान है वह आप की सेवा के अवसर से अनुगृहीत होगी। हम अपने अतिथियों को यथा-संभव सुविधा दे सकने के लिये उत्सुक हैं परन्तु कुछ अवस्थाओं में अतिथियों के सहयोग और सहायता के बिना हम असफल रह सकते हैं। हमें अनेक देशों के, अनेक भाषा-भाषी अतिथियों के स्वागत का सौभाग्य मिलता है। आप की यजमान, यान-चारिकाओं ने बहुत सी भाषायें सीख ली हैं कि अतिथियों को असुविधा न हो परन्तु एक भाषा, मौन की भाषा वे नहीं सीख सकी हैं। यदि आप उन से कुछ भी अनुरोध नहीं करेंगे तो वे भी निराश होकर मौन रह जायेंगी।

एक दूसरे पर्चे में था—

अतिथियों के छोटे-मोटे सामान के लिये यान के पिछले भाग में, ओवरकोट छाता आदि टाँगने की जगह के साथ ही सामान रखने का स्थान है। चारिका स्वयं ही आप का सामान लेकर रख देगी। कुछ चीजें उदाहरणतः महिलाएं अपने बटुए या थर्मस और पुरुष अपने ब्रीफ केस, कैमरे, एयर बैग आदि साथ ही रख लेते हैं। कुर्सियों के ऊपर भी छोटा-मोटा सामान रखने के लिये रेक हैं। बाज़ वक्त पोर्टेबल टाइपराइटर भी हाथ में साथ चला आता है और रेक पर रख दिया जाता है।

रेक पर कोई चीज रखते समय सावधानी तो जरूर रखी जाती है पर अवसर से कुछ भी हो सकता है। कभी कोई चीज फिसल कर गिर जा सकती है। यदि किसी मुसाफिर के सिर के ऊपर टाइपराइटर रखा हो ?

ऊपर से चीज के गिरने की संभावना चाहे न भी हो परन्तु यदि आप के पड़ोस में बैठे अतिथि को यह मालूम हो कि उस के सिर के ठीक ऊपर आप के टाइपराइटर जैसी भारी लोहे की चीज रखी है तो बेचारा चैन से

कैसे बैठ पायेगा ?'

× × ×

१९५३ जनवरी का अंतिम सप्ताह था। वियाना से इन्टर-नेशनल-एक्सप्रेस में लंदन जा रहा था। श्री शाह भी वियाना विश्व-शांति-सम्मेलन में गये थे और उसी ट्रेन से लंदन जा रहे थे। हम दोनों ने अलग-अलग टिकट खरीदे थे इसलिये एक ही डिब्बे में यात्रा नहीं कर रहे थे।

श्री शाह बहुत दृढ़व्रती गांधीवादी हैं। उस समय बहुत जाड़ा था। सब ओर बरफ थी, हवा भी बरफ के कणों से बोझिल थी। तिस पर भी शाह जी अपने केशहीन कपाल को खद्दर की सफेद गांधी टोपी से ही ढंके रहते थे।

यूरोप में रेलवे स्टेशनों के प्लेटफार्म पर जल के नल नहीं होंते। ट्रेन आने पर पानी-पांडे भी वाल्टी-लोटा लेकर 'ठंडा जल पियो' पुकारते घूमते दिखाई नहीं देते। शाहजी को बहुत प्यास लगी थी। वे लोटा लेकर ट्रेन के कोरीडोर में ओर-छोर कई चक्कर लगा चुके थे। उन्हें जल नहीं मिल रहा था।

ट्रेन में रेस्तोराँ की गाड़ी थी। रेस्तोरां का आदमी कुछ-कुछ समय बाद कोरीडोर में से घूम जाता था। कभी वाइन की बोतलें, कभी बियर दिखा जाता, कभी चाय-काफी दिखा जाता, कभी पेस्ट्री या कुछ और हल्की-फुल्की चीज़ें।

शाह जी को सलाह दी—"रेस्तोरां के आदमी से क्यों नहीं पूछते ?"

शाह जी उस से पूछ चुके थे। वह कह देता था—"प्यास के लिये बियर है, वाइन है, मिनरल है, साइडर है, चाय है, काफी है और क्या चाहिये ?"

शाह जी को जल चाहिये था। हम भारतीयों को परहेज न भी हो पर जन्मगत अभ्यास के कारण प्यास जल के बिना नहीं बुझती। मेरे विचार में तो मिनरल से काम चल जाना चाहिये था।

शाह जी का कष्ट देख कर कहा—"मिनरल तो अपने यहाँ का सोडा वाटर ही है। इन में कोई निषिद्ध या नशीला पदार्थ नहीं है। रेस्तोरां का आदमी जिस चीज़ के लिये दाम पायेगा, वही तो लाकर देगा पर शाह जी को शुद्ध जल ही चाहिये था।

जल की खोज में शाह जी के साथ रेस्तोरां में गया। सोचा, भोजन की व्यवस्था है तो जल क्यों नहीं होगा। रेस्तोरां में जाकर प्रबन्धक से कहा—

"यह साधु-सन्त, व्रती आदमी है। केवल जल ही पी सकते हैं। कुछ जल चाहिये। उस के लिये दाम दे देने में आपत्ति नहीं है।"

प्रबन्ध ने मिनरल ओर साइडर ( सेव के रस की बोतलें ) दिखा दीं—"यह जल ही है।"

उसी समय सफेद टोपी पहने रसोइये ने एक पतीले में, कोने में लगे नल से जल ले लिया।

उधर संकेत कर कहा--"इन्हें वैसा जल चाहिये।"

प्रबन्धक की भवें चढ़ गयीं--"यह तो घोड़ों को पिलाया जा सकता है; तुम जानो, ले लो।"

इस गुस्ताखी का क्या जवाब दे सकते थे ? उस की क्षुद्रता की ओर संकेत करने के लिये पूछ लिया—"एक जग जल के लिये कितना दाम चाहिये ?"

रेस्तोराँ वाले को शाह जी की प्यास से कुछ लाभ न उठा सकने के कारण क्षोभ था परन्तु सुसभ्य यूरोप में बोलने का यह कैसा शिष्ट तरीका था ?

दोपहर बाद एक बजे के भोजन के लिये इण्टर-नेशनल-एक्सप्रेस की रेस्तोरां की गाड़ी में गया। सभी मेज़ों पर दो-दो तीन-तीन लोग बैठ चुके थे। केवल कोने की छोटी मेज़ खाली थी। उसी मेज की ओर बढ़ गया।

कुर्सी खींच कर बैठा ही था कि एक बहुत शिष्ट वेश, सुस्वरूप युवा सज्जन ने रेस्तोराँ में कदम रखा। मुझे अकेले बैठे देख कर बहुत विनय से पूछ लिया—"अपने साथ बैठने की अनुमति दे सकेंगे ?"

सज्जन शुद्ध स्पष्ट अंग्रेज़ी में बोले। यूरोप के उस भाग में अच्छी अंग्रेज़ी बोल सकने वाले अधिक लोग नहीं मिलते।

"अवश्य। मुझे संगति का लाभ होगा।"

सज्जन ने बैठते ही कहा—"मेरा अनुमान ग़लत हो तो अन्यथा न मानियेगा आप को भारतीय समझ कर अंग्रेज़ी में बात की है।"

"आप का अनुमान बिलकुल ठीक है। मैं जर्मन या फ्रेंच समझ भी नहीं पाऊंगा।"

रेस्तोरां का बैरा आ गया। उस ने तैयार भोजन की सूची दिखाई। जानना चाहा, हम लोग क्या लेंगे ? हम दोनों ने अपने-अपने आर्डर दे दिये।

बैरे ने पूछा—"खाना आने तक पीने के लिये क्या हाजिर किया जाये ?"

कैसे बैठ पायेगा ?'

× × ×

१९५३ जनवरी का अंतिम सप्ताह था। वियाना से इन्टर-नेशनल-एक्सप्रेस में लंदन जा रहा था। श्री शाह भी वियाना विश्व-शांति-सम्मेलन में गये थे और उसी ट्रेन से लंदन जा रहे थे। हम दोनों ने अलग-अलग टिकट खरीदे थे इसलिये एक ही डिब्बे में यात्रा नहीं कर रहे थे।

श्री शाह बहुत दृढ़व्रती गांधीवादी हैं। उस समय बहुत जाड़ा था। सब ओर बरफ थी, हवा भी बरफ के कणों से बोझिल थी। तिस पर भी शाह जी अपने केशहीन कपाल को खद्दर की सफेद गांधी टोपी से ही ढंके रहते थे।

यूरोप में रेलवे स्टेशनों के प्लेटफार्म पर जल के नल नहीं होंते। ट्रेन आने पर पानी-पांडे भी बाल्टी-लोटा लेकर 'ठंडा जल पियो' पुकारते घूमते दिखाई नहीं देते। शाहजी को बहुत प्यास लगी थी। वे लोटा लेकर ट्रेन के कोरीडोर में ओर-छोर कई चक्कर लगा चुके थे। उन्हें जल नहीं मिल रहा था।

ट्रेन में रेस्तोराँ की गाड़ी थी। रेस्तोरां का आदमी कुछ-कुछ समय बाद कोरीडोर में से घूम जाता था। कभी वाइन की बोतलें, कभी बियर दिखा जाता, कभी चाय-काफी दिखा जाता, कभी पेस्ट्री या कुछ और हल्की-फुल्की चीजें।

शाह जी को सलाह दी—"रेस्तोरां के आदमी से क्यों नहीं पूछते ?"

शाह जी उस से पूछ चुके थे। वह कह देता था—"प्यास के लिये बियर है, वाइन है, मिनरल है, साइडर है, चाय है, काफी है और क्या चाहिये ?"

शाह जी को जल चाहिये था। हम भारतीयों को परहेज न भी हो पर जन्मगत अभ्यास के कारण प्यास जल के बिना नहीं बुझती। मेरे विचार में तो मिनरल से काम चल जाना चाहिये था।

शाह जी का कष्ट देख कर कहा—"मिनरल तो अपने यहाँ का सोडा वाटर ही है। इन में कोई निषिद्ध या नशीला पदार्थ नहीं है। रेस्तोरां का आदमी जिस चीज के लिये दाम पायेगा, वही तो लाकर देगा पर शाह जी को शुद्ध जल ही चाहिये था।

जल की खोज में शाह जी के साथ रेस्तोरां में गया। सोचा, भोजन की व्यवस्था है तो जल क्यों नहीं होगा। रेस्तोरां में जाकर प्रबन्धक से कहा—

"यह साधु-सन्त, व्रती आदमी है। केवल जल ही पी सकते हैं। कुछ जल चाहिये। उस के लिये दाम दे देने में आपत्ति नहीं है।"

प्रबन्ध ने मिनरल ओर साइडर ( सेव के रस की बोतलें ) दिखा दीं—"यह जल ही है।"

उसी समय सफेद टोपी पहने रसोइये ने एक पतीले में, कोने में लगे नल से जल ले लिया।

उधर संकेत कर कहा--"इन्हें वैसा जल चाहिये।"

प्रबन्धक की भवें चढ़ गयीं--"यह तो घोड़ों को पिलाया जा सकता है; तुम जानो, ले लो।"

इस गुस्ताखी का क्या जवाब दे सकते थे ? उस की क्षुद्रता की ओर संकेत करने के लिये पूछ लिया—"एक जग जल के लिये कितना दाम चाहिये ?"

रेस्तोराँ वाले को शाह जी की प्यास से कुछ लाभ न उठा सकने के कारण क्षोभ था परन्तु सुसभ्य यूरोप में बोलने का यह कैसा शिष्ट तरीका था ?

दोपहर बाद एक बजे के भोजन के लिये इण्टर-नेशनल-एक्सप्रेस की रेस्तोरां की गाड़ी में गया। सभी मेज़ों पर दो-दो तीन-तीन लोग बैठ चुके थे। केवल कोने की छोटी मेज़ खाली थी। उसी मेज की ओर बढ़ गया।

कुर्सी खींच कर बैठा ही था कि एक बहुत शिष्ट वेश, सुस्वरूप युवा सज्जन ने रेस्तोराँ में कदम रखा। मुझे अकेले बैठे देख कर बहुत विनय से पूछ लिया—"अपने साथ बैठने की अनुमति दे सकेंगे ?"

सज्जन शुद्ध स्पष्ट अंग्रेज़ी में बोले। यूरोप के उस भाग में अच्छी अंग्रेज़ी बोल सकने वाले अधिक लोग नहीं मिलते।

"अवश्य। मुझे संगति का लाभ होगा।"

सज्जन ने बैठते ही कहा—"मेरा अनुमान ग़लत हो तो अन्यथा न मानियेगा आप को भारतीय समझ कर अंग्रेज़ी में बात की है।"

"आप का अनुमान बिलकुल ठीक है। मैं जर्मन या फ्रेंच समझ भी नहीं पाऊंगा।"

रेस्तोरां का बैरा आ गया। उस ने तैयार भोजन की सूची दिखाई। जानना चाहा, हम लोग क्या लेंगे ? हम दोनों ने अपने-अपने आर्डर दे दिये।

बैरे ने पूछा—"खाना आने तक पीने के लिये क्या हाजिर किया जाये ?"

सज्जन ने इन्कार कर दिया, उन्हें आवश्यकता नहीं थी ।

मैंने एक बोतल अंगूरी लेना स्वीकार कर लिया ।

सज्जन ने फिर बात आरम्भ की—"आप की रुचि किन विषयों में है ? क्या केवल देश-भ्रमण के प्रयोजन से यूरोप आये हैं ? यह मौसम इस देश में भ्रमण के लिये विशेष अच्छा नहीं हैं ।"

उत्तर दिया--"लिख कर निर्वाह करता हूँ । विश्व-शान्ति-सम्मेलन में भारतीय-प्रतिनिधि-मण्डल के साथ वियाना आया था । लन्दन जा रहा हूँ ।"

सज्जन ने भारतीय लेखक से मिल सकने पर बहुत प्रसन्नता प्रकट की ।

सज्जन हालैण्ड का निवासी और पनीर का व्यापारी था । दूध-दही की खटास या पनीर की गन्ध का कुछ भी आभास या अनुमान उसे देख कर नहीं हो सकता था । बहुत साफ-सुथरी चुस्त पोशाक, मानो कोई डाक्टर हो या डायरेक्टर ।

ट्रेन स्विटरज़रलैण्ड के प्रदेश में फ्रांस की ओर जा रही थी । चौड़ी खिड़कियों से बरफ से ढंकी पहाड़ियाँ और बरफ में दबी दस-पाँच घरों की बस्तियाँ दिखाई दे जाती थीं और दिखाई रहे थे पतझड़े जंगल । कहीं देवदार के ढंग के घने वृक्ष भी दिखाई दे जाते थे । छोटे-मोटे तालाब जमे हुये थे परन्तु वेग से गिरते पहाड़ी नाले और झरने अब भी खूब नीले दिखाई दे रहे थे । उन का जल ऊँचाई से गिरने पर झाग से मोतियों की बौछारों में बदल जाता था ।

सज्जन ने फिर कहा--"यदि आप गरमी के मौसम में आते तो इस प्रदेश का सौन्दर्य देखते । सब ओर हरियावल और फूल दिखाई देते ।

विश्वास दिलाया, हम लोगों के देश में हरियावल और फूलों की कमी नहीं है । अलबत्ता बरफ का सौन्दर्य केवल कुछ ही स्थानों में दिखायी दे सकता है ।

बैरा अंगूरी की बोतल रख गया था । मेज़ पर गिलास मौजूद थे । शिष्टाचार के नाते सज्जन से कहा--"आप भी लीजिये !"

"बहुत अच्छा, ले लूँगा ।"

मैंने दो गिलास भर दिये ।

सज्जन पनीर के व्यापार के लिये यूरोप के प्रायः सभी भागों में घूमते रहते थे । सभी स्थानों की विशेषताओं का वर्णन बहुत ब्योरे से करते जा रहे थे । विशेष आग्रह किया—यूरोप में आये हैं तो हालैण्ड को देख लेना न भूलियेगा । हालैण्ड की अनेक विशेषतायें उन्हों ने बतायीं ।

खाना आ गया था। खाना खाते हुये उन के वर्णन सुनता जा रहा था। उन का बात करने का ढंग बहुत विषद और रुचिकर था।

गिलास समाप्त हो जाने पर उन से फिर कहा--"और लीजिये ?"

"बहुत अच्छा, ले लूंगा।"

सज्जन ने एक बार भी नहीं कहा--न, बस और नहीं चाहिये या आप ही लीजिये।

अच्छा नहीं लग रहा था। भद्रलोक को पीनी थी तो अपने लिये बोतल क्यों नहीं मंगा ली थी ?

भोजन हो गया परन्तु पनीर के व्यापारी की बात समाप्त नहीं हुई थी। मैंने मेज़ पर रखे दाँत-कुरेदनों में से एक उठा लिया। बात सुनते-सुनते कुरेदन का भी प्रयोग करता जा रहा था।

सज्जन कहता गया--"भारतीय और यूरोपीय समाजों में कितना अन्तर है। दो स्वतः पूर्ण संस्कृतियाँ और समस्यायें हैं। हम लोग उस देश को देखे बिना वास्तविकता का सही अनुमान नहीं कर सकते परन्तु यह जरूर जानते हैं कि भारत की संस्कृति और जीवन बहुत सजीव और रंगीन हैं। उस समाज में दृष्टिकोण, रुचि और अभ्यास दूसरे हैं। वहाँ का जीवन और व्यवहार हमें आकर्षक भी लगता है और विचित्र भी। मैं तो भारत के विषय में केवल पुस्तकों और चित्रों से रत्ती भर ही जान सका हूँ परन्तु उस पर मुग्ध हूँ।

"भारतीय व्यवहार की संक्षिप्त सी झांकी देख पाने का बहुत थोड़ा सा अवसर कुछ मास पूर्व पेरिस में मिला था। अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शनी थी; उस में भारत का भी विभाग था। अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ण वस्तुयें थीं। भारतीय भोजनालय भी था। उस अवसर को चूक नहीं सकता था। एक दिन वहाँ गया, खाना खाया।

"भारतीय महिलाओं की पोशाक, साड़ी की तुलना में महिलाओं की दूसरी कोई भी पोशाक नहीं ठहर सकती। शरीर पर साड़ी की लहरें और बहाव अद्‌भुत होते हैं। मैं उस का बखान नहीं कर सकता। वह तो बिलकुल स्वर्गीय पोशाक है। दर्जी वैसी पोशाक नहीं बना सकते। साड़ी को तो शरीर, अपनी स्थिति और आवश्तकता के अनुरूप स्वयं रूप देता है। यही उस का रहस्य है। आप क्या कहते हैं, मेरा अनुमान ठीक है ?"

"आप ने बहुत अच्छे ढंग से व्याख्या कर दी है।"

"मैं भारतीय भोजनालय में गया था। वहाँ भोजन की व्यवस्था भारतीय शैली और यूरोपीय शैली में भी थी। वैरे सिर पर पगड़ियाँ वाँधे थे, जैसे चित्रों में राजाओं के सिर पर होती हैं। मैंने तो भारतीय भोजन यूरोपीय ढंग से ही लिया परन्तु मेरे सामने मेज़ पर एक भारतीय युगल भोजन कर रहा था। युवक यूरोपीय पोशाक में था परन्तु युवती भारतीय साड़ी में थी। प्यारी-प्यारी श्यामलता लिये युवती का रूप वहुत दिव्य था और वहुत सुन्दर केश-विन्यास। चमकीले काले रेशम जैसे केश। वड़ी-वड़ी काली आँखें। पलकों में काली रेखाओं से आँखें और भी वड़ी लग रही थीं। माथे पर रक्त-विन्दु।

"खाना खाते व्यक्ति की ओर देखना शिष्टता नही है परन्तु कौतुहल का दमन कर सकना सम्भव नहीं था। कारण, युवक-युवती भारतीय शैली से खा रहे थे। आप के यहाँ भोजन लेने की शैली यूरोप से विलकुल भिन्न है।"

"हमारी अपनी शैली विलकुल भिन्न है परन्तु आधुनिक होटलों में यूरोपीय भोजन यूरोपीय ढंग में भी सुविधा से मिल जाता है। हम लोगों के तरीके में भोज्य पदार्थों को एक के वाद एक, अलग-अलग नहीं परोसा जाता। सव कुछ एक साथ परोस दिया जाता है।"

"ठीक, है ठीक है। यही देख कर मुझे आश्चर्य हुआ था। उन लोगों के लिये भोजन वहुत वड़ी-वड़ी गोल ट्रे में अलग-अलग लाया गया था। क्या चमचमाते हुये वर्तन थे ? चांदी के रहे होंगे या क्रोमियम की कलई के होंगे। वड़ी गोल ट्रे भी वहुत ही सुन्दर थी। उस के किनारे गोलाई में विलकुल सीधे खड़े थे। ट्रे में गोलाई से वहुत से, वैसे ही सीधे किनारों के चमचमाते हुये प्याले थे। कांटा-चम्मच भी रखे हुये थे परन्तु वे लोग उँगलियों से खा रहे थे।

"मैं कौतुहल का दमन नहीं कर सका। उँगलियों से इतनी सफाई और स्वच्छता से खा सकना कैसी चमत्कार कला है, देख कर विस्मय-विभूत रह गया। मेरी नज़र युवती की उँगलियों की ओर थी। सुन्दर, सुघड़ उँगलियां। युवती ने कांटे-चम्मच को छुआ भी नहीं। रोटी गोल और वहुत पतली थी। युवती केवल एक हाथ के अंगूठे और दो उँगलियों में रोटी का किनारा लेकर कुछ ऐसे हरकत करती थी कि छोटा टुकड़ा उस की उँगलियों में आ जाता था। रोटी के टुकड़े को चम्मच का रूप दे लेती थी। उसी चम्मच से प्यालों में से खा रही थी। प्रत्येक ग्रास के लिये रोटी के टुकड़े का नया चम्मच। खूवी यह कि चम्मच में कोई दस्ता नहीं था परन्तु उस की उँगलियाँ विलकुल

खुश्क-अछूती रहती थीं और मुख के भीतर भी नहीं जाती थीं। देखिये, यूरोप से कितना भिन्न व्यवहार है परन्तु कितना सुसंस्कृत ढंग है। हम तो कल्पना नहीं कर सकते। मैं विस्मय-विभूत देखता रह गया।"

मैं विस्मय-विभूत इस अद्‌भुत वर्णन को सुनता रहा।

सज्जन बोला--"अब देखिये, जैसे हम भारतीय ढंग की कल्पना नहीं कर सकते वैसे ही यूरोप के अनेक व्यवहारों का परिचय भारतीयों को होना कठिन है हालाँकि इन व्यवहारों में कोई तर्क नहीं मिलेगा पर अपना-अपना व्यवहार होता है। यह व्यवहार परम्परा और अभ्यास से मान्य हो गये हैं इसलिये सब वैसा ही करते हैं। किसी को दूसरे ढंग से व्यवहार करते देख कर विस्मय होता है, कभी चोट भी लग सकती है।"

"हां आप ठीक कह रहे हैं। स्वीकृत अभ्यास और परम्परागत व्यवहार से भेद जरूर खटकता है।" स्वीकार किया।

"अब देखिये, उदाहरणतः जब मछली परोसी जाती है तो छुरी और कांटा दोनों रखे जाते हैं। छुरी रखी तो जाती है परन्तु मछली खाने के लिये उस का उपयोग नहीं किया जाता। छुरी से मछली का स्पर्श भी नहीं किया जाता। मछली केवल काँटे से खायी जाती है। यह एक रीति है। इस के लिये तर्क कोई नहीं है।"

बहुत झेंप लगी। भोजन में मछली परोसी गयी थी और मैंने मछली खाने के लिये काँटे और छुरी का भी उपयोग किया था। चुप सुनता रहा।

सज्जन कहता गया--"यदि आप पूछिये कि ऐसा क्यों है, तो कोई भी व्यक्ति कुछ भी तर्क-संगत उत्तर नहीं दे सकेगा। यही उत्तर है कि यह यहाँ के भद्र-समाज का आचरण है, सब लोग ऐसा ही करते हैं। यदि वे किसी भद्र लोग को छुरी से मछली का स्पर्श करते देखें, उन के लिये यह असह्य होगा। निश्चय ही हमारे यहाँ अनेक ऐसी बातें मिल सकेंगी जो भारतीयों को या एशियावासियों को बहुत ही अभद्र लगें या असह्य जान पड़ें परन्तु हमें वे स्वाभाविक लगती हैं।"

मन ही मन पानी-पानी हुआ जा रहा था। क्या कहता ? झेंप से स्वीकार किया--"निश्चय ही आचार-भेद से ऐसी परिस्थितियाँ आ आना आश्चर्यजनक नहीं है।"

सज्जन कहता ही गया- "और भी अनेक ऐसी बातें या व्यवहार हो

सकते हैं। उदाहरणतः कुरेदन की ही वात लीजिये। भोजन की मेज़ पर कुरेदन रखे जरूर जाते हैं परन्तु मेज पर वैठे-वैठे इन का व्यवहार कोई नहीं करता।"

उस समय भी कुरेदन मेरे मुख में ही था, तुरन्त हाथ नीचे कर लिया।

सज्जन ने उस ओर नहीं देखा, कहता गया—"किसी का ध्यान आकर्षित किये बिना कुरेदन को उठा कर हथेली में ले लेते हैं या जेब में रख लेते हैं। जब अकेले हुये उस का प्रयोग कर लिया। दाँतों में ज्यादा अलकत लगी तो हाथ धो आने के लिये गुसलखाने में चले गये और कुरेदन से अलकत मिटा ली·····।"

अब झेंप के कारण और सुन सकना संभव नहीं रहा था। नज़र बचाये कहा—"इतनी अच्छी संगति और इतनी जानकारी भरी वातचीत के लिये अनेक धन्यवाद। आज्ञा दें तो जरा अपने कमरे में जाऊँगा, आधा लिखा पत्र छोड़ आया हूँ।"

कोरीडोर में से लौटता हुआ झेंप से सोचता जा रहा था—भले आदमी ने किस ढंग से वात की है। वात का एनस्थीज़ीया देकर (पीड़ा की चेतना को सुलाकर) वात का नश्तर चला दिया।

फिर सोचा, एक वोतल अंगूरी के मोल इतना सीख लेना महंगा सौदा नहीं रहा।

# ६

## अदृश्य बेड़ी

"आयेगी ! ···आयेगी ! ··· आयेगी !"

शिवाजी मार्ग, हुसैनगंज, कन्धारी बाज़ार। धारासभा मार्ग, सदर की सड़क और स्टेशन तक भी, दिन या रात में किसी भी समय, जून की तपती दोपहर में लू के झोकों के साथ या जनवरी में आधी रात की सनसनाती, हड्डियाँ बेंधती हवा के साथ पुकार सुनाई दे जाती है। कभी सप्ताह-दो सप्ताह यह पुकार सुनाई नहीं देती और फिर सहसा सड़क पर एक अरक्षित किशोर, निराशा से लड़ने के लिये ऊँचे स्वर में पुकारता चलता दिखाई दे जाता है—"आयेगी ! ····आयेगी ! ·····आयेगी !"

सदा, सब समय एक ही पुकार लगाते फिरना पागलपन का लक्षण समझा जाता है। पागलों के प्रति लोगों को प्रायः दया और सहानुभूति का व्यवहार करते नहीं देखा। दया आती होगी परन्तु सस्ते, क्रूर विनोद की प्रवृत्ति अधिक प्रबल हो जाती है। बच्चे तो उन के प्रति बहुत निर्दय हो जाते हैं।

सड़क पर ही विनोद का साधन पा सकने वाले छोकरों ने 'आयेगी ! ··· आयेगी !' पुकारते इस किशोर को घेर कर, उसे सता कर अपना खेल करना चाहा। उस गरीब ने कोई चिढ़ नहीं दिखाई, कोई प्रतिकार नहीं किया। वह शायद अपने वियोग के ध्यान में इतना डूबा रहता है कि उस के आँख-कान और कुछ देख-सुन ही नहीं पाते। उस की निराशा को स्वीकार न करने की जिद्द की पुकार में भी कुछ ऐसा खोयापन और दरद है कि छोकरों को भी उसे सताने में विनोद अनुभव नहीं होता।

'आयेगी ! ····आयेगी !' उस की निराशा से लड़ती, विश्वास की करुण पुकार मन को ऐसे छू लेती है कि लोग उस की पुकार और उस के दुख और

वियोग का कारण पूछे विना नहीं रह सकते । सब जान गये हैं कि वह अपनी मां को पुकारता फिरता है ।

नन्दू ने मुहल्ले में तहकीकात करके बहुत सी बातें जान ली हें—लड़के की मां को हैज़ा हो गया था । पड़ोस के प्रभावशाली लोगों ने म्युनिसिपल कमेटी में खबर कर दी । 'छुतहा हस्पताल' के लोग एम्बुलेंस लेकर आये और उस की माँ को इलाज के लिये उठा ले गये । उस दिन पड़ोस के लोगों ने लड़के को खाने को दे दिया और तसल्ली भी देते रहे कि तेरी मां चंगी होकर लौट आयेगी ।

गरीब स्त्री बीमारी से बच नहीं पायी । उस के शव का क्रिया-कर्म करने का उत्तरदायित्व कौन लेता ? दो-एक दिन लोग दया से लड़के को दिलासा देते रहे, तेरी माँ चंगी होकर आ जायेगी पर पराये लड़के को बहलाते रहने का चकल्लस कौन निबाहता ? आखिर कह दिया--तेरी माँ बीमारी में मर गई है । अब नहीं आयेगी ।

माँ के लाड़ले अल्हड़ किशोर के मस्तिष्क पर भयंकर आघात लगा । उस का मस्तिष्क मानने के लिये तैयार नहीं हुआ कि उस की मां बीमारी से मर गयी है; वह लौट कर नहीं आयेगी । वह दृढ़ विश्वास से, पूरे नगर से लड़ कर कहता रहता है कि उस की माँ 'आयेगी ! ··· आयेगी ! ···आयेगी !'

संसार में दूसरों के दुःख और चिन्ता की और ध्यान देने वाले भी हैं । हमारे मुहल्ले में भी कुछ ऐसे लोग हैं ही । उन्हों ने करुणार्द्र स्वर में कहा—"बेचारी की इतनी ही लिखी थी । उम्र पूरी हो गयी थी तो बीमारी का बहाना हो गया । कर्मन की गति है । देखो, हस्पताल जाकर मरी । जाने कफन भी मिला होगा कि नहीं ! ··हिल्ले रोज़ी बहाने मौत' ! 'वही' सब करने वाला है···अपने-अपने करम हैं, जो जितनी लिखा कर लाता है, उस से एक दिन कम-ज्यादा नहीं जी सकता···"

नन्दू कभी-कभी अपनी उम्र से कुछ अधिक चिंता भी करने लगता है, बोला--"मान लिया, मां के कर्म बुरे थे । उसे भगवान ने इतनी ही अवधि दी थी । अपने कर्म से हस्पताल में जाकर मरी कि कोई अपना आदमी मुंह में जल डालने वाला भी नहीं था पर उस का गरीब लड़का क्यों यह दुख भोग रहा है ? दुख भी ऐसा कि उस का तो जीवन ही मिट्टी हो गया ।"

उत्तर के लिये किसी को कुछ सोच-विचार नहीं करना पड़ा। हमारे समाज में ऐसे प्रश्नों के उत्तर परम्परा से चले आ रहे हैं। दो-तीन आदमी तुरन्त् बोल पड़े--"भैया, वह भी अपने उस जन्म के कर्मों का फल भोग रहा है। कर्मों के फल से ही इस उम्र में मां मर गयी, अनाथ हो गया। अपने कर्म ही आगे आते हैं। सब अपना किया ही पाते हैं।"

नन्दू का संतोष नहीं हुआ, बोला —"इस की माँ अपने गत जन्म के कर्मों से हैज़े में मरी या बेटे के पापों के कारण उसे मातृहीन करने के लिये माँ को मर जाना पड़ा या बेटा गत जन्म की पापिन माँ के कर्मों के फल से अनाथ होकर पागल हो गया है या....."

नन्दू को 'आयेगी, आयेगी !' पुकारते अपनी आयु के अनाथ बालक से बहुत सहानुभूति हो गई है। उसे देख कर वह वैसी ही सहानुभूति और क्रोध अनुभव करता है जैसे दूध पीते बछड़े को माँ से छीन ले जाने वाले कसाई के प्रति होना चाहिये परन्तु नन्दू समझ नहीं पाता क्रोध किस के प्रति करे ?

नन्दू ने अपनी दादी से सुना है कि ईश्वर बहुत दयालू और न्यायकारी है। वह विश्वास नहीं कर सकता कि ऐसा क्रूर अन्याय ईश्वर ने किया होगा इसलिये नन्दू ने बहुत पूछ-ताछ करके पता लगा लिया है—लड़के की माँ गरीब विधवा होने के कारण रेल की लाइन पर कोयला चुनने जाती थी। वह सख्त गरमी में साँझ को बहुत भूखी-प्यासी लौटी थी। उसे डर था, खाली पेट पानी पीने से पानी लग जायेगा इसलिये स्त्री ने गली के मोड़ की दूकान से तरबूज की एक फाँक लेकर खा ली थी। घण्टे भर में ही स्त्री को हैज़ा हो गया था।

नन्दू ने अपनी आयु के लड़कों से बहस भी की। उस ने कहा—स्त्री तरबूज बेचने वाले के अपराध से मरी है। उस के साथियों ने आकाट्य तर्क दिया--भगवान् की इच्छा बिना तो पत्ता भी नहीं हिल सकता।··जाको राखे साईयाँ मार सके न कोय। भगवान् न चाहते तो वह स्त्री मर ही नहीं सकती थी। भक्त प्रह्लाद को जलती भट्ठी में से बचा लिया था।

स्कूल में स्वास्थ्य-रक्षा पढ़ लेने के बाद से नन्दू को मक्खियों से बहुत भय लगता है। उस की आँखों के सामने किसी चीज़ पर मक्खी बैठ जाये तो उसे खा सकने का साहस नहीं होता। उस का विश्वास है कि मृतक स्त्री को हैज़ा होने का कारण मक्खी भिनकते सड़े हुये तरबूज की फाँक खा लेना था।

नन्दू ने अपने साथियों से बहस करना व्यर्थ समझा। पड़ोसी लड़के केवल

सुनी हुई बातें दोहरा देते हैं। भगवान का नाम लेकर कसम खाते है परन्तु भगवान को सदा धोखा दे सकने का भी भरोसा करते हैं। छिप कर जुआ खेलते हैं, गरीब-कमज़ोर खोमचे वाला पा जाये तो लूट लेने से नहीं डरते। भगवान के प्रति उन का कुछ विचित्र सा विश्वास है कि भगवान केवल असह्य संकट में पुकार लेने का सहारा है। एक तरह उन लोगों का व्यवहार-विचार ठीक ही है। भय किसी का भी हो, यदि आदमी सदा डरता ही रहे तो डर से ही मर जाये।

नन्दू को भगवान में असीम-अटूट विश्वास रखने का उपदेश उस की दादी ही देती हैं इसलिये वह इस विषय में उन्हीं से निस्संकोच तर्क कर सकता है। कर्म-फल में विश्वास रखने वालों का कहना है कि सब लोग अपने-अपने पाप-पुण्य का फल पाते हैं। दूसरे के किये का फल कोई नहीं पा सकता।

अनाथ हो गये बालक की माँ की मृत्यु से नन्दू के मन में शंका उत्पन्न हो गयी है। उस का कहना है कि स्त्री की मृत्यु गन्दा-सड़ा, मक्खी बैठा तरबूज बेचने वाले के अपराध या पाप से हुई है। तरबूज़ बेचने वाले के अपराध या पाप से बेचारी गरीब स्त्री, जो सस्ते से सस्ता तरबूज खरीदने के लिये लाचार थी, क्यों मर गयी? भगवान भक्त प्रह्लाद को जलती भट्ठी में से बचा सकते थे, गरीब औरत को मक्खियों के ज़हर से नहीं बचा सके? वह स्त्री तो गरीबी के कारण और मक्खियों से बीमारी के भय के अज्ञान के कारण मरी है।"

नन्दू दादी को ईश्वर का वकील मान कर, उन से इस बात का जवाब-तलब किये बिना नहीं रह सका।

दादी ने परेशान होकर कह दिया—"तू क्या जानता है, भगवान तो सब के इस जन्म और पिछले जन्म का भी किया जानते हैं। उस औरत के कर्म पूरे हो गये होंगे। संकट से छूट गयी।"

नन्दू का संतोष नहीं हुआ। उस ने शँका की—"वह लड़का किस के अपराध से अनाथ हो गया?"

"उस के भी अपने कर्म होंगे।" दादी ने कहा।

"बताइये, क्या कर्म थे?"

"मैं क्या सर्वज्ञ भगवान हूं? तू बहुत न बका कर।" दादी ने लाड़ से डांट दिया।

नन्दू कहता रहा कि भगवान ने बेचारे लड़के को जीवन बरबाद हो जाने का दण्ड दिया है तो उस का अपराध या पाप जरूर बताया जाना चाहिये था। वह उस गरीब को इतना भयंकर दण्ड दिया जाने में भगवान की शक्ति या अधिकार के विषय में शंका नहीं करना चाहता है। वह यह जान लेना चाहता है कि किस अपराध का फल इतना भयंकर दण्ड हो सकता है। यह इसलिये जान लेना जरूरी है कि लोग ऐसे अपराध से और उस के दण्ड से बच सकें। कर्मफल के रूप में, ईश्वर के न्याय में विश्वास करने वाले ऐसी शंकाओं से परेशान नहीं होते।

नन्दू की दादी को बुढ़ापे में जोड़ों का दरद बहुत सताता है। सामर्थ्य भर सब इलाज किये जा चुके हैं, दरद मिटने में नहीं आता। पचास वर्ष पुराना कष्ट है। उन का विश्वास है कि आयु पचहत्तर से अधिक हो चुकी है, अब भगवान उन्हें केवल दरद के रूप में, गत जन्म के कर्मों का फल देने के लिये ही इस संसार में जीवित रखे हैं। कभी घर में कोई सुख या प्रसन्नता की बात हो जाती है तो वे समझती हैं—गत जन्म के पुण्यों का शेष फल वसूलने के लिये ही वे अभी संसार में हैं। कर्मफल में विश्वास करने वालों की तरह इस जन्म को कर्मों का भोग ही समझती हैं। वे पूर्णतः अंध-विश्वासी भी नहीं हैं। सत्यार्थ प्रकाश और गीता भी पढ़ती हैं। उन का विश्वास है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु कर्मों का फल भोगने में परतंत्र है इसलिये मनुष्य को सुकर्म करने का यत्न करते रहना चाहिये। कर्म-फल से यदि दुख ही मिले तो भी चिन्ता या क्रोध नहीं करना चाहिये। जब दवा खाने से पीड़ा दूर नहीं होती तो उसे वे कर्मफल मान कर पीड़ा के लिये भगवान को धन्यवाद देते हुये पीड़ा को चुपचाप सह जाना उचित समझती हैं। जब पीड़ा बहुत असह्य हो जाती है तो नन्दू को बुलाकर दरद दूर कर देने वाली गोली मांग लेती हैं।

अनाथ होकर दुख में सुध-बुध खो जाने वाले लड़के के मामले में बहस होने पर दादी नन्दू का समाधान नहीं कर सकी थीं इसलिये उन के सामने नन्दू की ज़बान खुल गयी है। यह भी कारण हो सकता है कि नन्दू मैट्रिक पास हो गया है और जानता है कि दादी मैट्रिक पास नहीं हैं। वह उन से अपना तर्क क्यों नहीं आज़मा सकता इसलिये पोता दादी से हुज्जत के लिये भी बहस करता रहता है।

नन्दू ने दादी को दरद दूर करने की गोली लाकर देते समय पूछ लिया—"दरद क्यों हो रहा है आप को ?"

"अरे कर्मों का फल है, और क्या बताऊं" दादी गोली हाथ में लेकर व्यर्थ प्रश्न से कुछ झुंझला उठीं।

नन्दू ने आधे घण्टे या घण्टे बाद देखा, दादी दरद से कराहना छोड़कर किसी काम में लग गई थीं। उस ने फिर पूछ लिया--"अम्मा जी, दरद का क्या हाल है ?"

"बेटा, भगवान तुझे सुखी रखे, अब तो आराम है" दादी ने उसे गोली ला देने के लिये लम्बा आशीर्वाद दिया।

नन्दू आशीर्वाद की कामना से नहीं कुछ और सोचकर आया था, बोला—"आप तो कह रही थीं कि दरद कर्मों के फल से हो रहा था।"

"तो और क्या, भगवान तेरा भला करे--मेरे कर्मों से नहीं हो रहा था तो क्या तेरे सिर से हो रहा था ? क्यों बका करता है ! चुप रह, मेरे जले मुंह से कोई बुरी बात निकल जायेगी।"

"तो अम्मा जी, एस्प्रीन की गोली से आप के कर्मों का फल मिट गया ?" नन्दू बोलता गया, "आप कहती हैं, सब रोग कर्मों के फल से होते हैं। क्या डाक्टर और दवाई कर्मों के फल को मिटा देते हैं ? जानती हैं, पहले निमोनिया हो जाने पर कोई मुश्किल से ही बच पाता था अब पेनिसिलीन बन गयी है। निमोनिये से कोई डरता ही नहीं। बीमारियां कर्मों के फल से नहीं होतीं, शरीर में कई तरह के जर्म या विष चले जाने से या शरीर में विष इकट्ठे हो जाने से हो जाती हैं। भगवान का भरोसा करने वाले इस देश में जितनी बीमारियां होती हैं, साइंस का भरोसा करने वाले देशों में नहीं होतीं।" नन्दू अपने विषद ज्ञान का परिचय देने के लिये स्वास्थ्य-रक्षा के पाठ में पड़ी हुई बातें बताने लगा।

दादी सत्यार्थ-प्रकाश और गीता पढ़ती हैं। पचहत्तर वर्ष तक ज्ञानियों से सुने उपदेशों से प्राप्त किये विश्वास का बल भी है। वे नन्दू की ऐसी बहस का उत्तर देती हैं—"यह सब भी कर्मों के फल से होता है। बच्चू, तू मुझे क्या सिखाता है ?" और वे नन्दू के अविश्वासी बकवास को अनसुना कर देना चाहती हैं। अपने कर्मों का फल धैर्य से सहने के विश्वास में वे भजन गाने लगती हैं :—

"ऊधो कर्मन की गति न्यारी ।
मूरख-मूरख राज करत हैं, पंडित फिरे भिखारी ।
ऊधो कर्मन की गति न्यारी"

नन्दू दादी को मुंह चिढ़ा कर बकने लगता है—"वाह, वाह ! यह आप के परमेश्वर का बहुत अच्छा न्याय है !

"बच्चू, यह भी अपने कर्मों का फल है।" दादी ने बहुत आग्रह से कहा, "कर्मों के फल से कोई नहीं बच सकता ।"

नन्दू दादी के सामने भगवान को अन्यायी प्रमाणित कर देना चाहता है, बोला -- "यह भगवान का बहुत न्याय है कि कर्मों के फल से मूर्ख ही रह जाय और राजा भी बन जाय ।"

नन्दू और दादी एक साथ बोल पड़े । दादी ने दृढ़ विश्वास से कहा-- "बच्चू, यही तो भगवान का न्याय है । वह दूध का दूध और पानी का पानी अलग-अलग कर देता है । मूर्ख बनने के कर्म होंगे तो मूर्ख ही रहेगा और राजा बनने के कर्म किये होंगे तो राजा भी बनेगा । इसी को तो न्याय कहते हैं ।"

नन्दू दादी की बात सुनने से इन्कार कर चिल्लाने लगा--"पर मूर्ख राजा की प्रजा का क्या हाल होगा ? प्रजा मूर्ख राजा का अन्याय क्यों सहे ? भगवान क्या अंग्रेज़ सरकार की तरह अन्यायी है कि अपने खुशामदियों को जागीदार, ताल्लुकदार बना देगा·····।"

कभी-कभी दादी से नन्दू की बहस दूसरे स्तर पर होने लगती है ।

आप जानते हैं, इस वर्ष बारिश बहुत कम हुई है । बरसात के मौसम में भी गरमी का काफी कष्ट रहा । आधे सितम्बर में बादल उमड़-घुमड़ कर आ जाते थे पर बरसते नहीं थे । हवा थम जाती थी तो गरमी और घुटन से मन बहुत व्याकुल होने लगता था । नन्दू की दादी आकाश की ओर हाथ जोड़कर भगवान के अनेक गुणों का बखान कर, बरसा देने के लिये प्रार्थना करने लगतीं ।

नन्दू की मां साड़ी के आंचल से हवा लेती हुई चिंता प्रकट करने लगीं— "रुपये का एक सेर बारह छटांक गेहूँ मिल रहा है । लोग कह रहे हैं, धान की पूरी फसल सूख कर गिर गई । अब तो गेहूँ जाने रुपये का सेर भी मिल पायेगा या नहीं ?"

ऐसे अवसर पर दादी जरूर बता देना चाहती हैं कि जब नन्दू के पापा नन्दू जितने थे तो गेहूँ दो रुपये का मन भर मिलता था, घी एक रुपये का सवा सेर। मरे वनस्पति का तो नाम भी नहीं सुना था। नन्दू के पापा के पिता जी दूसरे महीने घी का कनस्तर खरीद लेते थे ···

नन्दू टोके बिना नहीं रह सका—'अम्मा जी, आप के ही पापों के फल से अब रुपये का दो सेर गेहूँ और छः रुपये का सेर घी मिलता है।"

"हां बेटा, हमारे कर्मों का ही फल है। दुनियाँ जैसा करेगी वैसा भोगेगी।" दादी ने स्वीकार कर लिया और फिर याद करने लगीं, "घर में शक्कर के मटके भरे रहते थे ··।"

नन्दू फिर बोल उठा—"अच्छा अम्मा जी, वर्षा तो आप के पाप के कारण नहीं हो रही है, भगवान ने हमारे लिये क्यों गरमी कर दी है ? जिन लोगों के यहां सब कमरों में बिजली के पंखे हैं, वे सब बहुत पुण्यात्मा हैं ?"

"हाँ जरूर, उन्हों ने पुण्य किये होंगे तभी तो भगवान उन्हें सुख दे रहा है।"

नन्दू फिर सोच कर बोला—"वर्षा शहर के लोगों के पाप से नहीं हो रही। भगवान बेचारे किसानों को क्यों बरबाद कर रहा है ? वह दयालू है तो किसानों को कोई और दण्ड दे दे। फसल मारी जायगी तो सभी लोग मरेंगे। एक के पापों का दण्ड दूसरे को देना तो न्याय नहीं है !"

"तू मुझे क्या सिखाता है ?" दादी ने पोते को डांटा, "मैं क्या नहीं जानती हूँ, लोग कितने पाप कर रहे हैं, उसी का फल पायेंगे।" दादी ने प्रमाण में दोहा बोल दिया—"बोया पेड़ बबूल का आम कहाँ से खाय।"

नन्दू के पापा भी कभी-कभी अपनी माँ और अपने बेटे के दलीली-दंगल में रस लेने लगते हैं। बोल उठे—"माँ जी, वर्षा न होने से और सब लोग तो अपने कुकर्मों के फल में गरमी सहेंगे और आधे पेट रहेंगे या भूखे मरेंगे परन्तु अन्न की खत्ती भर कर उसे चोर-बाजार के दाम बेचने वाला व्यापारी अपने पुण्य का फल पायगा ! वह दस रुपये मन खरीदा हुआ अनाज चालीस रुपये मन बेच कर लाखों कमायेगा ! भगवान अपने भक्त चोर-बाजार के व्यापारी के लाभ के लिये ही अनावृष्टि कर रहे हैं।"

नन्दू उत्साह से उछल पड़ा—"अब बताइये अम्मा जी, अब बताइये ?"

नन्दू की दादी का विश्वास विचलित नहीं हुआ। दृढ़ विश्वास प्रकट करने के लिये एक हाथ की मुट्ठी दूसरे हाथ की हथेली पर मार कर बोलीं—

"कोई ऐसा पाप करेगा तो इस का भी फल पायगा। कर्म करने में तो सब स्वतन्त्र हैं···।"

नन्दू के पापा ने बात छेड़ दी थी फिर बोलना पड़ा—"भगवान किसी को अन्याय और अत्याचार करने की स्वतन्त्रता और अवसर देता है तो ऐसी स्वतंत्रता और अवसर का उपयोग करने का दण्ड क्यों देता है? और भगवान ही ऐसा करने की बुद्धि भी देता है। यह तो बिलकुल वैसी ही बात है जैसे होली के दिनों में शैतान लड़के बाजार में बटुआ डाल देते हैं और छिप कर देखते रहते हैं। जहाँ किसी भोले आदमी ने झुक कर बटुये को हाथ लगाया, तहाँ खोपड़ी पर तड़ातड़ जूते पड़ने लगें।"

नन्दू पापा की बात पर खुशी से उछल पड़ा।

मां जी ने फिर भी दृढ़ विश्वास से पूरी बाँह फैलाकर, तर्जनी को इंकार के संकेत में सब के सामने दायें-बायें दिखाकर कहा—"नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। ईश्वर अन्याय-अत्याचार करने के लिये किसी को नहीं कहता। वह सब को बुद्धि देता है। वह सब को कर्म करने की स्वतन्त्रता देता है।"

नन्दू पापा की शह पाकर उत्साहित हो गया था, उछल कर बोला—"भगवान सब को स्वतन्त्रता कहाँ देता है।" उसे मुहल्ले के एक आदमी का नाम याद था जिस का लड़का जन्म पाते ही मर गया था। उस की याद दिलायी, "वह तो जन्मते ही मर गया उसे क्या कर सकने की स्वतन्त्रता मिली? गफूर अपनी माँ को याद करके 'आयेगी! आयेगी!' चिल्लाता फिरता है। उस के लिये अब जीवन में क्या स्वतन्त्रता रह गयी है?"

दादी फिर भी अविचलित रहीं, बोलीं—"यह सब अपने कर्मों का भोग है। नहीं तो बताओ, क्यों एक आदमी राज-पाट करने के लिये पैदा होता है, दूसरे की जन्मते ही मृत्यु हो जाती है? यह कर्मों का फल नहीं तो क्या है?"

"जन्मते ही मर जाता है या मूर्ख उत्पन्न होता है, कुछ करने लायक नहीं तो फिर कर्म करने की स्वतन्त्रता क्या हुई?" नन्दू ने किलककर कई बार दादी को चुनौती दी।

नन्दू के पापा ने माँ जी को समझा सकने के लिये दूसरे ढंग से बात आरम्भ की :

"सुनिये मां जी, भगवान को आपने कभी देखा नहीं, उन से कभी बात भी नहीं की। स्वयं भगवान ने किसी को कुछ नहीं कहा।"

"कहा क्यों नहीं !" माँ जी ने टोक दिया, "भगवान ज्ञान देता है, बुद्धि देता है; वह कहना ही है ।"

पापा ने माँ जी को समझाया––"यह तो आप का विश्वास है कि जो कुछ ज्ञानियों और ऋषि-मुनियों ने शास्त्रों में कहा है, वह भगवान की आज्ञा और उपेदेश है । यह बात ठीक है न ?"

माँ जी को स्वीकार करना पड़ा परन्तु उन्होंने इतना और जोड़ दिया–– "हमारी भी तो बुद्धि है । हम भी तो सोच सकते हैं ।"

"जरूर-जरूर !" पापा ने माँ जी को शान्त करने के लिये कहा, "आप कहती हैं, लोगों के कष्ट––बीमारी, बाढ़, अनावृष्टि लोगों के पापों के कारण होते हैं । १९३४ में जब बिहार में भूकम्प आया था तो गांधी जी ने कहा था कि भारत में अछूतों के साथ जो अन्याय होता है उसी के कारण भगवान ने भूकम्प का दण्ड दिया है ।"

माँ जी प्रसन्न हो गयीं, बोलीं –"गांधी जी ने बिलकुल ठीक कहा । अछूत भी तो मनुष्य हैं । उन के साथ अन्याय करना पाप है । स्वामी दयानन्द ने तो पहले ही कहा था ।"

"हाँ, हां, स्वामी दयानन्द ने भी कहा है, गांधी जी ने भी कहा है" पापा ने स्वीकार किया, "परन्तु मनु महाराज और तुलसीदास जी ने उन से पहले ही कह दिया था कि शूद्रों के स्पर्श से द्विज अपवित्र हो जाते हैं । शूद्रों को विद्या और ज्ञान का अधिकार नहीं है ।"

नन्दू बहुत ज़ोर से बोल पड़ा—"तुलसीदास जी ने तो कहा है, 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी ।"

"दूँगी एक कड़छी सिर पर ! बेशर्म कहीं का ! ज़बान बहुत लम्बी हो गयी है ।" नन्दू की माँ ने हाथ में पकड़ी हुई कड़छी उठा कर डाँट दिया । अब तक वे बहस से निरपेक्ष सब को परोसने में व्यस्त थीं परन्तु बेटे की तेज़ी पर लगाम रखना भी तो जरूरी था ।

माँ जी ने पोते की धृष्टता की उपेक्षा कर बेटे को उत्तर दिया—"हमारी भी तो बुद्धि है । परमेश्वर ने मनुष्य-मात्र को समान बनाया है ।"

पापा ने विस्मय प्रकट किया––"आप ही कहती हैं, कोई राजा उत्पन्न होता है कोई रंक । सेहत और रूप भी सब का एक सा नहीं होता । यदि न्यायकारी, दयालु ईश्वर ने मनुष्यों को बनाया है, तो निश्चय ही सब को एक

जैसा वनाता ।"

"यह तो कर्मों का फल है" माँ जी ने फिर अपने विश्वास का अवलम्ब पकड़ लिया ।

नन्दू के पापा ने अपनी माँ की धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के प्रभाव से आत्मा, कर्मफल और पुनर्जन्म के सम्वन्ध में थोड़ा-वहुत पढ़ कर उस पर विचार और कल्पना भी की है परन्तु बात विश्वासी माँ और नन्दू के समझने लायक ढंग से करने के लिये वोले :

"माँ जी कौए, कुत्ते, और वन्दर की योनि में जन्म कर्मों यानि चोरी-चकारी के फल भोगने के लिये ही होता है ?"

"हाँ, और क्या ।" दादी ने स्वीकार किया ।

"माँ जी, लेकिन कौए, कुत्ते, बन्दर तो यह अनुभव नहीं करते कि हम पापों के फल से हीन-योनि की सजा भुगत रहे हैं । जव अवसर मिल जाये वे फिर चोरी करते हैं । यह उन की जाति का स्वभाव जान पड़ता है । भगवान उन के ऐसे अपराधों का भी दण्ड देगा ?"

"मैं कौआ, बन्दर वन जाऊँ तो बड़ा मजा आये" नन्दू ने कौआ-बन्दर वनने के सुख की कल्पना में कहा, "आकाश में उड़ कर सब पतंगें काट लूं और पेड़ों पर चढ़ कर खूव आम खाऊँ !"

"तू अव क्या वन्दर से कम है ?" माँ ने कह दिया ।

नन्दू की दादी प्रौढ़ आयु वेटे की हुज्जत से झुंझलाने लगीं तो नन्दू के पापा ने समझाया--"अच्छा माँ जी, गत जन्म के कर्मों का फल भोगता कौन है ? प्राणों और शरीर का तो मृत्यु से अन्त हो जाता है । हिन्दू मृतक शरीर को जलां देते हैं, दूसरे लोग उसे गाड़ देते हैं तो मिट्टी में मिल जाता है । आत्मा तो शास्त्रों के अनुसार अमर है, सुख-दुख से मुक्त है ।"

"जीव ! जीव भोगता है फल !" मां जी ने कहा ।

"जीव तो शरीर के आरम्भ या जन्म के साथ वनता है । शरीर के बिना तो जीव होता नहीं । उस से पहले की बातों से वेचारे जीव को क्या मतलब ?"

माँ जी ने प्रौढ़ वेटे को डांट दिया—"मुझे मूर्ख वनाता है ! तू क्या नहीं जानता, जीव अनेक योनियों में भटकता है, अस्सी लाख योनियाँ हैं ।"

"हाँ, सुना तो है" प्रौड़ वेटे ने स्वीकार किया, "अस्सी लाख योनि भुगत कर दुर्लभ मनुष्य जन्म मिलता है ।"

"तो फिर खामुखा क्यों बातें बना रहा है !" माँ ने जवाब-तलब किया।

"मां जी, भगवान ने मनुष्यों के पापों का दण्ड देने के लिये अस्सी लाख योनियां बनाईं तो उन का यह परिश्रम व्यर्थ ही गया। जिस दण्ड का प्रभाव न हो वह व्यर्थ ही है।"

"क्यों ?"

"आप ही देख लीजिये, सब मनुष्य अपने पिछले कर्मों के फल से अस्सी-अस्सी लाख योनि का दण्ड भुगत कर मनुष्य बने हैं। भगवान ने इतना दण्ड देकर मनुष्य योनि दी है परन्तु फिर भी अधिकांश मनुष्यों को कितना दुखी बनाया है। मनुष्य-समाज में लोग पाप करने से जरा भी नहीं हिचकते। भगवान से और कर्मफल से कोई भी नहीं डरता।"

"वाह, यह कैसे हो सकता है ?" माँ जी ने विरोध किया, "यदि भगवान और कर्मफल का डर न हो तो संसार में जाने क्या हो जाये !" मां जी ने दोनों हाथ मल कर आतंक प्रकट किया।

"हां माँ जी, यह बात तो ठीक है" प्रौढ़ बेटे ने समझौते के लिये स्वीकार कर लिया, "हम पिछले जन्म के कर्मों का फल भोग रहे हैं या इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्म में भोगेंगे, इस बात के लिये तो प्रमाण नहीं है परन्तु इस बात के लिये प्रमाणों की कमी नहीं है कि भगवान और कर्मफल का भय मनुष्यों को भयभीत करके वश में रखने के लिये है।"

पाप से बचाने के लिये भय हो तो क्या बुरा है, बच्चू !" मां जी विजय की चुनौती से बोल उठीं।

प्रौढ़ बेटे ने चिंता से कहा—"कौन-कौन बात पाप या पुण्य है, कह देना सहज नहीं है। कुछ बातें तो सभी लोग बता सकते हैं। स्वार्थ के लिये दूसरों को किसी भी प्रकार दुख या हानि पहुंचाना पाप है यह तो माना जा सकता है परन्तु स्वार्थ क्या है या कौन काम दूसरों को दुख या हानि पहुंचाता है, इस विषय में संदेह हो सकता है। मनु महाराज और तुलसीदास जी कहते हैं, शूद्र का ब्राह्मण से समता की इच्छा करना पाप है, प्रजा का राजा की आज्ञा न मानना पाप है, दास स्वामी के लिये प्राण न्योछावर न करे तो वह भी पाप है। स्त्री पति को परमेश्वर न माने तो भी पाप है।..."

पापा नन्दू की ओर देख कर कहते गये—"लोगों को वश में रखने के लिये सदा हाथ में डण्डा और तलवार उठाये रहना बहुत असुविधाजनक होता

है। सब से अधिक प्रभावशाली उपाय विश्वास का था। दीनों को विश्वास दिला देना कि उन का तो जन्म ही सेवा करने के लिये और ऊँची जाति के वश में, उन के आधीन रहने के लिये हुआ है। फौलादी वेड़ी से तो मनुष्य चिढ़ जाता है, उसे काट डालने या तोड़ डालने का भी यत्न करता है परन्तु विश्वास की अदृश्य वेड़ी को अपनी इच्छा से और यत्न से पहने रहता है।"

७

# मेरा पचपनवीं वर्षगांठ

आज मेरी पचपनवीं वर्षगांठ है ।

प्रति वर्ष इस दिन मुझे कुछ उलझन अनुभव होती है । कारण यह कि इस तारीख पर पत्नी प्रातः ही बच्चों को मुझे जन्म-दिन की बधाई देने और शुभ-कामना प्रकट करने के लिये याद दिला देती हैं । सन्ध्या समय दो-चार समीपियों को भी किसी बहाने से चाय या भोजन पर बुला लेती हैं । मैं अपनी वर्षगांठ की डोंडी पीटने में संकोच और अनिच्छा प्रकट करता हूँ तो वे विश्वास दिला देती हैं - किसी को कुछ बता कर थोड़े ही बुलायेंगे ! परन्तु समय पर बात मुंह से जरूर निकल जाती है या बच्चे ही चिल्ला देते हैं तब अतिथि प्रसन्नता प्रकट कर बधाई कैसे न दें । मैं झेंप जाता हूँ ।

वर्षगांठ या जन्म दिन मनाने में मुझे सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं है । अपने बच्चों की वर्षगांठ मनाते ही हैं । हमें उपहार देने में अच्छा लगता है । वे उपहार पाकर सन्तुष्ट होते हैं । यह भी अच्छा लगता है कि बच्चे एक वर्ष और बढ़ गये । वे उत्तरदायित्व सम्भालने योग्य हो रहे हैं ।

अपने बच्चों के जन्मदिन मनाना इसलिये संगत लगता है कि उस से हमें व्यक्तिगत और पारिवारिक प्रसन्नता और सन्तोष होता है । कुछ महापुरुषों के जन्मदिन मनाना भी संगत हो सकता है । यों तो आज भारत के राष्ट्रपति की भी वर्षगांठ है । पत्रों में उस की चर्चा है । मालूम नहीं वे राष्ट्रपति नहीं रहेंगे तब भी यह दिन मनाया जायगा या नहीं परन्तु महापुरुषों के जन्मदिन मनाना इसलिये संगत जान पड़ता है कि पूरा समाज उन के प्रति आभार और आत्मीयता अनुभव करता है । समाज उन के चले जाने पर भी उन्हें याद रखना चाहता है । ऐसे लोग मानवता और समाज के विकास में आशा और दिशा दिखाने वाले स्तम्भों के समान होते हैं ।

अपने लिये महापुरुषों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार की बात सोचने से भी झेंप लगती है बल्कि व्यंजना से एक व्यर्थता की अनुभूति होती है। जब से पचास पार कर लिये हैं, इस दिन उम्र और बढ़ जाने का सन्तोष नहीं, हाथ से या आशा में से कुछ चले जाने का ही विचार आता है।

अपने मन की बात लिख रहा था कि पत्नी ने एक तार लाकर दे दिया—'यह शुभ दिन बार-बार आये।' याद आ गया, ऐसे ही अवसर पर गालिब ने बादशाह की वर्षगांठ पर अपनी शुभ-कामना, कितने उद्गार से प्रकट की है—'तुम जियो हजार बरस और हर बरस के हों दिन पचास हजार।' यानि मृत्यु का दिन कभी न आये। कामना चाहे जैसी भी की जाये, तथ्य यह है कि प्रति वर्ष इस दिन, मृत्यु एक वर्ष समीप आ जाती है।

सभी जानते हैं कि मृत्यु ही सब से अधिक निश्चित बात और प्रकृति का अनिवार्य नियम है। यह जान कर भी विचार अच्छा नहीं लगता कि एक दिन मर जायेंगे। यह याद करते रहना मुझे भी अच्छा नहीं लगता।

कई बार सोचा है, क्या मैं मृत्यु से डरता हूं? तर्क से सोच चुका हूं कि सृष्टि के आदि से अब तक मृत्यु से कोई बच नहीं सका। मैं मृत्यु से डरूँ तो भी उस से बच नहीं सकूंगा। इस डर से क्या लाभ?

पुरानी बातें हैं—दो-तीन ऐसे अवसर आ चुके हैं जब मालूम था कि अमुक काम करने में बचे रहने की सम्भावना बहुत कम और मारे जाने की ही अधिक थी। उस प्रयोजन से जाते समय साथियों ने अन्तिम विदाई दे दी थी। मर नहीं गया, यह अवसर की बात थी। उस समय ऐसा विश्वास था कि उन कामों को कर सकने का महत्व मेरे जीवित बने रह जाने से अधिक था। जीवन में ऐसा कोई उद्देश्य हो तो मन में बहुत उत्साह रहता है और जान पड़ता है कि जितना जी रहे हैं, सार्थक है। जीवन के प्रयत्नों का लक्ष केवल प्राण-रक्षा को ही बना लेने से जीवन में वैसा उत्साह और सार्थकता अनुभव नहीं हो सकती। यदि जीवित रह सकने के लिये आवश्यकताओं को पूरा करना ही लक्ष हो तो फिर आवश्यकताओं के लिये नैतिकता को भी बलिदान कर दिया जाता है। नैतिकता तो विचार-मात्र ही होती है, जिस की पहचान और अनुभूति परिस्थितियों और तुलना से ही हो सकती है। कहने में अच्छा नहीं लगेगा परन्तु जान पड़ता है, बहुत बड़ी संख्या इसी प्रकार जी रही है या सदा

ऐसे ही जीवन निवाहती रही है ।

जीवन में लक्ष तो होना ही चाहिये पर प्रश्न हो सकता है कि लक्ष कैसा हो ? लक्ष आध्यात्मिक हो या सामाजिक ? आध्यात्मिक लक्ष से अभिप्राय है, संसार से विरक्त हो कर, अनासक्ति से अपनी पूर्णता या अपनी आत्मा की मुक्ति की इच्छा करना । समाज भौतिक और पार्थिव वस्तु है इसलिये सामाजिक लक्ष सांसारिक और पार्थिव होता है ।

हमारे देश के परम्परावादी नेता हमारे समाज के सामने लक्ष या आदर्श के अभाव से चिन्तित हैं । उन का विचार है कि लक्ष के अभाव में सांसारिक स्मृद्धि से भी व्यक्ति का कल्याण और सामाजिक सुव्यवस्था और शान्ति नहीं हो सकती । इस विचार से वे सांसारिक लक्षों के अतिरिक्त मनुष्य के लिये, स्वयं अपने भीतर असांसारिक लक्षों की भी आवश्यकता समझते हैं । जैसे गांधी जी के विचार में 'मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष ईश्वर को प्राप्त करना' था या कुछ लोगों के अनुसार व्यक्ति का जीवन-मुक्त हो जाना और उस की आत्मा का ब्रह्म में लीन हो जाना चरम लक्ष है ।

समाज की भौतिक समस्याओं से विच्छिन्न व्यक्तिगत आध्यात्मिक लक्ष की इच्छा कर सकने में मुझे सफलता नहीं मिल सकी । जीवन से परे क्या है, यह चिंता भी मुझे व्यर्थ जान पड़ती है पर जीवन को अनुभव करता हूँ । जीवन को मैं प्रकृति और संसार के सम्बन्ध से क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में ही देख सकता हूँ । अपने अस्तित्व के केन्द्र से कर्म और सम्बन्धों के विस्तार का प्रयत्न ही जीवन की क्रिया है । जीवन कुछ करने, समझने, अपने में समाहित करने में ही है । जीवन की गति 'स्व' के केन्द्र से बाहर की ओर है । ब्रह्म या भगवान को भी अपने से पृथक माने बिना उसे प्राप्त करने या उस में लीन हो जाने का यत्न नहीं किया जा सकता । विचार, कर्म, प्रकृति और संसार से सम्बन्ध विच्छेद करके जीवन के अस्तित्व की कल्पना मैं नहीं कर सकता । मुझे वह अवस्था काल्पनिक शून्य अथवा अभाव-मात्र जान पड़ती है ।

हमारे परम्परावादी विचारकों और राजनैतिक नेताओं के साथ कुछ दिन से नेहरू जी भी देश की जनता और नौजवानों में जीवन के आदर्शों और लक्षों के अभाव की चिंता कर रहे हैं । इन लोगों के विचार में व्यक्ति के उत्पादन और सामाजिक सुव्यवस्था और सन्तुलन के लिये आध्यात्मिक लक्षों में आस्था आवश्यक है ।

हमारे समाज के लिये आध्यात्म का मार्ग नया सुझाव नहीं है। हमारा समाज आध्यात्म की कल्पना और विचारधारा से चिरकाल से परिचित है परन्तु यह मार्ग हमारे जन-साधारण की समस्याओं को; वे समस्यायें जैसी भी थीं या हैं, सुलझाने में सहायक नहीं हो सका।

आध्यात्म का मार्ग समाज और संसार से अनासक्ति की साधना है। वाह्य संसार से अनासक्ति या संसार की ओर प्रवृत्ति की रुकावट प्रवृत्ति को अंतर्मुखी और आत्मरत करेगी ही। यह 'अहं' में समा जाना है। आध्यात्म बात तो 'अहं' को समाप्त करने की करता है परन्तु अभ्यास में वह 'अहं' का अतल भँवर मात्र है। ऐसा भँवर जिस में 'अहं' सूक्ष्म और अमूर्त होकर भावना-मात्र रह जाता है।

आध्यात्म के मार्ग ने समाज के लिये उत्पादन और व्यवस्था की समस्याओं को कभी नहीं सुलझाया। आध्यात्म के मार्ग का प्रभाव जीवन की स्थूल और तथ्य समस्याओं की चेतना को भुला देने या सुला देने का प्रयत्न करता है। पारलौकिक आस्थाओं ने कभी भी विकास और सामर्थ्य के लिये संघर्ष को प्रोत्साहन नहीं दिया अपितु पारलौकिक आस्थाओं और आध्यात्म ने समाज की विषमताओं को सह्य बनाने में ही सहयोग दिया है।

यदि जनता अनेक संघर्षों में प्राप्त हुए अनुभवों, विज्ञान के संसर्ग और शिक्षा के प्रसार से विश्वास के बजाय तर्क की प्रवृत्ति को अपना रही है तो चिंता का क्या कारण है ?

नेहरू जी जनता में किस प्रकार के आदर्शों और लक्षों के अभाव से चिंतित हैं ?

आज कैसे आदर्श और लक्ष जनता और नौजवानों को प्रेरणा दे सकते हैं ?

ग्यारह-बारह वर्ष पूर्व इस देश के नौजवानों या जनता के लिये जीवन का आदर्श या लक्ष चुन लेना कुछ भी कठिन नहीं था। इस देश का कोई भी युवक या व्यक्ति विदेशी शासन से देश की मुक्ति के लिये जीवन की बाजी लगा देना अपना लक्ष मान ले सकता था परन्तु आज लोग किस लक्ष को अपनायें ? क्या विदेशी शासन से मुक्ति ने हमें लक्षहीन बना दिया है ? विदेशी परतन्त्रता से मुक्ति हमारे पतन का कारण नहीं बन जाना चाहिये।

विकास के सिद्धान्तों और वैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार जिसे मार्क्सवाद

का नाम भी दिया जाता है, सोचने वाले मनुष्य-समाज के विकास और उन्नति की कोई चरम सीमा नहीं मानते। उन्नति और विकास की चरम सीमा की चिंता की बात तो बहुत दूर है। अभी तो हमें कदम-कदम पर जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति और मानवी न्याय की समस्यायें ही पुकार रही हैं। अभी तो हम केवल विदेशी परतन्त्रता से मुक्त हो पाये हैं, जीवन के लिये अवसरों और अधिकारों को नहीं पा सके हैं। इस अवस्था में इस देश के वासियों को अपने आदर्श और लक्ष चुन सकने में कठिनाई क्या है ?

आज भी अपने देश में ऐसे बहुत से लोगों को देखता हूँ, जिन के सामने बहुत बड़ा मानवी और सामाजिक लक्ष है। उन लोगों के पास सामाजिक प्रगति के लिये विश्वास योग्य सिद्धान्त और कार्यक्रम भी हैं और यह सिद्धान्त उन्हें अनुप्राणित कर रहे हैं। ऐसे लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सीमा को तोड़ कर सामाजिक लक्षों के लिये संघर्ष कर रहे है। वे लोग केवल श्वास नहीं ले रहे बल्कि सक्रिय रूप में जी रहे हैं। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में कुछ वर्ष पूर्व नेहरू जी ने अपनी 'आत्म-कथा' में लिखा था :

'इस विस्तीर्ण और सर्वांगीण दृष्टिकोण के कारण सच्चा, समझदार साम्य-वादी कुछ हद तक सामाजिक जीवन के प्रति सुगठित समझ का विकास कर पाता है। राजनीति उस के लिये केवल अवसरवादिता या अन्धेरे में भटकने का लेखा-जोखा भर ही नहीं रहती। वे आदर्श और उद्देश्य जिन के लिये कि वह काम करता है, उन संघर्षों और बलिदानों को, जिन का कि वह खुशी से सामना करता है, अर्थ प्रदान करते हैं। वह महसूस करता है कि वह मनुष्य के भाग्य और नियति का फैसला करने वाली एक महान सेना का अंग है और उसे इतिहास के साथ कदम से कदम मिला कर चलने का अहसास होता है।'

सच्चे समझदार साम्यवादी या मार्क्सवादी आज भी इस देश में मौजूद हैं। अपने विचार से वे आज भी उसी मार्ग पर प्रयत्न कर रहे हैं। परि स्थितियों के प्रभाव से उन की संख्या और उन का बल बढ़ता जा रहा है परन्तु नेहरू जी को अब उन सिद्धान्तों और उस मार्ग की आवश्यकता नहीं रही है। अब मार्क्सवाद उन्हें 'आउट आफ डेट' (पिछड़ा हुआ) जान पड़ता है।

जान पड़ता है, नेहरू जी मार्क्सवाद के मार्ग को विदेशी परतन्त्रता से मुक्ति पाने की मंजिल तक ही उपयोगी समझते थे। नेहरू जी को अब मार्क्स-वाद की आवश्यकता नहीं रही इसलिये उन के लिये वह आउट आफ डेट हो

गया है परन्तु विदेशी परतन्त्रता दूर हो जाने से ही जन-साधारण की समस्यायें पूरी नहीं हो गयीं हैं। नेहरू जी मार्क्सवाद को बेशक आउट आफ डेट कहें परन्तु जिन उपायों से वे जन-साधारण की समस्याओं का सुलझाव सम्भव समझते हैं, उन उपायों को नेहरू जी के समझदार प्रतिद्वंद्वी राजाजी—मार्क्सवाद या कम्युनिज्म ही कहते हैं। वे नेहरू जी को राष्ट्र के लिये नये आर्थिक सिद्धान्त बना सकने की मौलिकता का श्रेय देने के लिये तैयार नहीं।

जन-साधारण की समस्याओं को सुलझाने के लिये नेहरू जी को मार्क्सवाद द्वारा बताये उपायों के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय सूझ नहीं सका परन्तु उन उपायों को मार्क्सवाद कहने में उन्हें झिझक है। वे उस मार्ग पर साधारण गति से नहीं, अटक-अटक कर, जितना सम्भव हो बच कर चलना चाहते हैं। उस मार्ग पर साधारण गति से आगे बढ़ने की माँग उन्हें अपने संस्कारों के कारण, पार्थिवता से अन्धे होकर भटकना जान पड़ती है, उस में उन्हें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन और 'हिंसा' दिखायी देती है।

'हिंसा' शब्द का प्रयोग किसी भी अप्रिय वस्तु के लिये कर लिया जा सकता है परन्तु वास्तव में हिंसा क्या है? सोचिये तो हिंसा शक्ति-प्रयोग का समानार्थक है। जिस अवसर पर आप शक्ति-प्रयोग की निन्दा करना चाहते हैं, उसे 'हिंसा' कह देते हैं; जिस अवसर पर शक्ति या हिंसा के प्रयोग को मान्यता देना चाहते हैं, उसे 'कानून' कह देते हैं। क्या नेहरू जी अपने विश्वास में शासन और न्याय को चलाने के लिये शक्ति या 'हिंसा' का प्रयोग नहीं कर रहे हैं? सशस्त्र-पुलिस, खुफिया-पुलिस, सेना, जेलें और सन्देह पर गिरफ्तार कर सकने के कानून शक्ति या हिंसा द्वारा नियन्त्रण के ही साधन हैं। इन संगठनों और साधनों को आध्यात्म और प्रेम द्वारा हृदय-परिवर्तन का माध्यम नहीं मान लिया जा सकता। अस्तु, नेहरू जी की निराशा के बावजूद इस देश में आदर्शों के लिये जीने वालों का सर्वथा अभाव नहीं है, उन की संख्या बढ़ रही है। मुझे सन्तोष है कि मेरा जीवन भी निरुद्देश्य और अकारथ नहीं है।

जीवन को अकारथ न बिताने की सांत्वना पा लेने पर भी यह तो नहीं भुला दिया जा सकता कि प्रत्येक वर्षगाँठ पर जरा और मरण एक वर्ष समीप आ जाते हैं। इस विचार से पचपनवीं वर्षगांठ और भी खलती है क्योंकि

सरकारी कायदे से पचपन वर्ष की आयु में व्यक्ति को रिटायर कर देना (अवकाश दे देना) उचित समझा जाता है। सरकार समझती है कि इस आयु के बाद व्यक्ति की शक्ति उतार पर आ जाती है, उस से पूरी मुस्तैदी की आशा नहीं की जा सकती। सर्व-साधारण लोग भी ऐसा ही समझते हैं। मुझे यह स्वीकार कर लेना उत्साह-प्रद नहीं लगता इसलिये इस वर्षगांठ पर बधाई से उल्लास कैसे अनुभव करूँ ?

इस वर्षगांठ की बधाई मुझे एक प्रकार से चेतावनी है कि मैं प्रौढ़ हो गया हूं। सिर पर केश तो सफेद हो ही चुके हैं। चेहरे पर भी वैसे चिह्न जरूर आ गये हैं। पास-पड़ोस के लोग और परिचित नौजवान मुझे देख कर अपनी खिलखिलाहट बन्द कर देते हैं, कभी मुझे देख कर उठ कर खड़े हो जाते हैं या बस में अपनी जगह दे देते हैं। वे मुझे गुरू-गम्भीर और शिथिल हो गया समझ कर करुणापूर्ण आदर प्रकट कर देना चाहते हैं। मुझे इस से उत्साह नहीं होता। ऐसी अवस्था से ही खिन्न होकर केशव ने कहा होगा—"केशव केसनि अस करी जस अरिहूं न कराहि, चन्द्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाहि।"

मैं हँसते-खेलते संसार से पृथक नहीं हो जाना चाहता। मुझे अब भी सांसारिक बातें, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की बातें, चार मित्रों के साथ मिल कर निस्संकोच कहकहा लगाना, दूसरों का मज़ाक बनाना, अपना मज़ाक सुनना अच्छा लगता है। कुछ और ज़ोरदार और सार्थक लिख पाने की या मकान बना लेने की भी इच्छा है। मैं संसार से अनासक्त होकर परलोकाभिमुख हो जाने की तैयारी नहीं करने लगा हूं। जानता हूं कि वर्षगांठ मृत्यु के एक वर्ष नज़दीक आ जाने की चेतावनी है पर मैं इस चेतावनी की ओर ध्यान नहीं देना चाहता। मर जाने के लिये मुझे कोई प्रयत्न नहीं करना है। मृत्यु तो स्वयं आ जायेगी इसलिये मुझे मृत्यु की किसी तैयारी की ज़रूरत नहीं जान पड़ती। गालिब ने कह ही दिया है—

'मौत की राह न देखो कि बिन आये न रहे।'

मुझे मर जाने की कामना नहीं है। मृत्यु से डरने का विचार भी मुझे अच्छा नहीं लगता। मृत्यु से डर कर अमर बनने की चर्चा करते रहने से मृत्यु से बचा नहीं जा सकता। मृत्यु के समय मेरा क्या व्यवहार होगा, कभी इस बात पर ध्यान नहीं दिया। लोक कहते हैं, अर्धमूर्छा या उपचेतन प्रलाप में

व्यक्ति अजाने में अपनी वास्तविक और दबी हुई भावनाओं को प्रकट कर देता है। यदि यह बात ठीक है तो--

प्राय: वर्ष भर पहिले मुझे जोर का ज्वर आ गया था। कुछ बहुत जोर का भी नहीं, १०४.६ ही था पर मैं बहक कर प्रलाप करने लगा था। स्पष्ट याद है कि इच्छा न होते हुये भी बातें मुंह से निकालती जा रही थीं। पत्नी को समीप बुला कर कहा—".....जान पड़ता है, मेरे शरीर की गति बन्द होने वाली है, मैं मर रहा हूं पर इस में घबराने की कोई बात नहीं है। मुझे पीड़ा या कष्ट अनुभव नहीं हो रहा है। मुझे श्मशान ले जाने के प्रबन्ध के लिये मत घबराना। इधर-उधर खबर दोगी तो आठ-दस आदमी जरूर आ जायेंगे। तुम्हें इधर ध्यान देना होगा इसलिये आज प्रेस में छुट्टी कर दो। तुम्हें कुछ दिन बुरा लगेगा पर साधारण ढंग से जीवन चलाती रहना। किसी भी व्यक्ति या वस्तु के बिना काम नहीं-रुकता। आदि-आदि ..."

पत्नी ने घबराकर डाक्टर को तुरन्त आ जाने का सन्देश भेज दिया।

डाक्टर से काफी परिचय है, हंसी-मजाक और बहस भी होती रहती है।

ज्वर की अवस्था में अपने आप को बहका हुआ नहीं समझ रहा था। डाक्टर को भी पहचान लिया। डाक्टर ने तापमान और नाड़ी-परीक्षा कर समझ लिया कि चिंता का कोई कारण नहीं था। मेरा तमाशा देखने के लिये काफी समय समीप बैठा रहा। डाक्टर प्रश्न करता रहा और मैं उत्तर भी देता रहा। इतनी चेतना जरूर थी कि बहुत सी बातें मुझे बाद में भी याद रहीं। याद रहा, हम बातचीत अंग्रेजी में कर रहे थे।

डाक्टर ने बहुत गम्भीर और जिज्ञासु मुद्रा से पूछा--"यह तो बताओ, किस प्रकार की पीड़ा या कष्ट अनुभव हो रहा है?"

उत्तर दिया--"कोई पीड़ा या कष्ट नहीं अनुभव हो रहा है।"

"तो क्या; कैसा अनुभव हो रहा है?"

"नशा-सा मालूम हो रहा है जैसे दो पेग ह्विस्की का सरूर हो। शरीर में असुविधा नहीं है बल्कि सरूर की गमगमाहट अनुभव हो रही है और अपना अन्त होने की चेतना है। समझ पड़ता है, मृत्यु है।"

"मृत्यु कैसी लग रही है?"

"यह लग रहा है कि शरीर की क्रिया समाप्त होने ही वाली है परन्तु दरद कहीं नहीं है।"

"उस के बाद क्या दिखायी देता है ?"

"कुछ भी नहीं। यही लगता है कि चेतना सहसा समाप्त हो जायगी, मशीन का चलना बंद हो जायगा। यह मशीन नहीं लोहा-मात्र रह जायगी।"

डाक्टर को निश्चिंत हंसी-मज़ाक करते देख कर पत्नी की चिंता भी दूर हो गयी थी। याद है, वे भी साड़ी का आंचल ओठों पर रखे पलंग के समीप खड़ी सुन रही थीं।

"अरे भाई, कुछ सुख-दुख, बीबी-बच्चों की चिंता, मोह ?"

"सब है पर क्या कर सकता हूं ? अधीर होने से लाभ ? यह सब तो शरीर और मस्तिष्क की क्रियायें हैं। वे समाप्त हो रही हैं तो अनुभव कैसे करूंगा। सब समाप्त हो रहा है, होना ही था इन्हें भी समझ लेना चाहिये कि एक चीज समाप्त हो गयी। यह तो होता ही है।"

दूसरे दिन डाक्टर ने आकर कहा—"तुम भौतिकवादी बनते हो लेकिन तुम्हारी वास्तविकता मालूम हो गई। तुम्हारी प्रवृत्ति आध्यात्म की ओर है, तुम वेदान्ती हो।"

डाक्टर का ख्याल है कि उस ने मेरी उपचेतना या बहकी हुई अवस्था में मेरी वास्तविकता को पहचान लिया। मैं नहीं समझ सका, मेरे प्रलाप में भौतिकवाद से क्या असंगति और आध्यात्म और वेदान्त के प्रति झुकाव की क्या पहचान थी ? मैंने मरने की कल्पना में शरीर को छोड़ कर जीव रूप में भटकने की कल्पना नहीं की न ब्रह्म में लीन हो जाने की। भौतिकवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तर्क के अनुसार मृत्यु को अनिवार्य अंत के रूप में स्वीकार कर लेने में मुझे कोई असंगति नहीं जान पड़ती। विपरीत इस के जीवन-मरण से मुक्त हो जाने की इच्छा में ही मृत्यु का भय जान पड़ता है।

मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि आध्यात्मवादी मृत्यु से कातर हो जाता है। कबीर ने तो कहा है—'जिस मरने से जग डरे मेरे मन आनन्द, मरने से ही पाइये पूरन परम आनन्द।' मैं मानता हूं कि कबीर जैसा स्थिर-चित्त योगी मरण की प्रतीक्षा उल्लास से कर सकता होगा परन्तु उसे क्या फिर जन्म और जीवन में बंध जाने का भी भय नहीं होगा ? यदि वह ऐसी कल्पना से भय-भीत नहीं है तो वह जीव और आत्मा को शरीर से पृथक नहीं मानता। इस प्रकार का विचार तो आध्यात्म की अपेक्षा भौतिक दृष्टिकोण के ही अधिक अनुकूल होगा।

मेरा यह अभिप्राय बिल्कुल नहीं है कि भौतिकवादी संत कबीर की तरह मृत्यु की कामना उत्साह से करता है परन्तु यह निस्सन्देह है कि पूर्वीय या पश्चिमीय किसी भी भौतिकवादी ने कभी भी अजर-अमर हो जाने की कल्पना नहीं की और उस के लिये साधना की बात भी नहीं सोची। भौतिकवादी को ऐसी कल्पना और इच्छा नितांत अनावश्यक और अप्राकृतिक जान पड़ती है। आध्यात्मवाद का उद्भव और अस्तित्व भी जीव की जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति की चिंता से हुआ है। यह चिंता ऐसी है कि जीवन को नीरस और अकारथ कर देती है। मनुष्य सदा मृत्यु की ही बात सोचता रहता है। जाने कब से आध्यात्मवादी इस प्रयत्न में हैं परन्तु अभी तक एक भी प्रामाणिक उदाहरण, जन्म-मरण से मुक्त हो गये जीव का नहीं मिल सका।

मृत्यु की कामना मैं उत्साह और लालसा से नहीं करता परन्तु 'वर्षगांठ हजार बार आने की शुभ कामना' से भी मुझे उल्लास नहीं होता। जो लोग ऐसी शुभ कामना करते हैं, वे इस का पूरा अभिप्राय या इस से सम्बन्धित तथ्य को नहीं याद रखते। वे प्रसन्नता में केवल रिवाज़ पूरा कर लेते हैं। जो इस शुभ कामना से उत्साहित हो जाते हैं, वे भी ऐसे आशीर्वाद का अभिप्राय समझने का यत्न नहीं करते। वे केवल मानसिक अभ्यास से पुलक उठते हैं।

कहने-सुनने वाले सभी जानते हैं, हजार बरस किसी को नहीं जीना परन्तु बहुत दिन, शरीर जरा से जर्जर हो जाने के बाद जीते चले जाने से क्या लाभ? वह कितनी अवांछनीय अवस्था हो सकती है? पास-पड़ोस में किसी भी दिन देख लिया जा सकता है।

आयु में प्रति वर्ष लोगों को एक नयी गांठ लगाते-लगाते ऐसी अवस्था में पहुंच गया देखता हूं कि वे बच्चों के लिये खिलवाड़, परिहास का पात्र और जवानों और वयस्कों के लिये उपेक्षा और ग्लानि के पात्र बन गये हैं। वे अपने पुत्रों और पोतों के लिये परेशानी, संकट ओर बोझ बन गये हैं। लोगों को ऐसे दीर्घजीवियों की पीठ पीछे कहते सुनता हूं—अब तो इन के भोग पूरे हो चुके हैं, भगवान इन्हें मुक्ति दे परन्तु वे इस संसार को छोड़ने में नहीं आते। ऐसी अवस्था हो जाने की शुभ कामना से क्या उत्साह अनुभव किया जाये? यह कितनी मजेदार बात है कि लोग दूसरों के लिये दीर्घ-जीवन संकटमय हो गया देख कर, उन के लिये तो मर जाने की इच्छा कर सकते हैं परन्तु अपने लिये दीर्घ से दीर्घ जीवन चाहते हैं।

मनुष्य-समाज की विचारधारा को आत्मवादियों और ब्रह्मवादियों की सब से बड़ी देन जीवन-मरण से मुक्ति के सम्बन्ध में चर्चा ही है। भगवान बुद्ध भी रोगी, वृद्ध और मृतक को देख कर रोग, जरा और मृत्यु से मुक्ति के उपाय खोज लेने के लिये घर-बार छोड़ कर चले गये थे। कवियों और कलाकारों ने उन के इस आचरण को ज्ञान की इच्छा से त्याग का नाम देकर इस की कितनी गाथा गाई है। गौतम रोग, जरा और मरण का उपाय जान लेने की जिद् में वृक्ष के नीचे अनशन करके बैठ गये थे। वे तेरह दिन तप करते बैठे रहे। क्षुधा और आसन से बैठने की थकान में वे मूछित हो गये। भाग्य से सुजाता नाम की लड़की ने उन की अवस्था देख ली।

सहृदय लड़की दौड़ कर अपने घर गयी और एक कटोरा खीर ला करके होठों से लगा दी। गौतम यदि समर्थ होते तो शायद जिद् में इन्कार कर देते। शरीर की क्लान्ति ने दृढ़ विचार को शिथिल कर दिया था। खीर खा गये। खीर पेट में चली जाने से गौतम की विचार-शक्ति जागी। उन्हें समझ में आया, अनाहार से मेरी विचार-शक्ति ही क्षीण हो गयी थी तो जरा-मरण से मुक्ति के उपाय का विचार कैसे कर सकता था। उन्हें ज्ञान हो गया—यह चिंता वृथा ही थी। शरीर भौतिक या प्रकृति के नियमों के अनुसार ही चलेगा—'मरणं प्रकृति शरीराणाम्'—यह ज्ञान पा कर गौतम भगवान बुद्ध हो गये। वे न रोग का, न जरा का, न मरण का उपाय ढूंढ़ सके परन्तु उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ, वह चिंता ही व्यर्थ थी। संसार जिस क्षण में जितना है, जैसा है—वही सत्य है। परिवर्तन तो होगा ही। परिवर्तन मरण नही, सृष्टि का क्रम है। हमारे शरीर में ही प्रति क्षण सहस्रों जीवाणु बनते-मिटते रहते हैं। परिवर्तन से आतंकित होना व्यर्थ है।

किसी ने कहा है कि समझदार दूसरों के अनुभव से सीख लेते हैं। जो दूसरों के अनुभवों से नही सीख सकते वे अपने अनुभव से भी नहीं सीख सकेंगे। रोग, जरा और मृत्यु के सम्बन्ध में भगवान बुद्ध का अनुभव किस के लिये पर्याप्त नहीं ? बुद्ध रोग, जरा और मृत्यु का उपाय ढूंढ़ने गये थे परन्तु रोग और जरा से ही उन का शरीरांत हुआ और वैसे ही अढ़ाई हजार वर्ष से उन के करोड़ों अनुयायियों का भी हो रहा है।

सोचना हो तो यही सोचा जा सकता है कि--केवल दुख पाने के लिये जरा-कवलित शरीर से मोह—दुख से मोह की मूढ़ता-मात्र है। उस अवस्था

में स्थिर चित्त मनुष्य के लिये कालीदास के अनुसार 'योगेनान्तेततनुत्याजाम्' उचित है अर्थात शरीर को योग-क्रिया से छोड़ दे ।

योग के दोनों अर्थ हैं--'योगः कर्मसु कौशलम्' और 'चित्तवृतिनिरोधः योगः' ( कार्य की विधि का ज्ञान और चित्त का स्थिर और बुद्धि के वश होना ) । वास्तव में आवश्यकता दृढ़ निश्चय की ही है ।

वर्षगांठ मनाने से मुझे सुख नही होता तो यह कोई दैवी आपत्ति नहीं है । पत्नी को समझा लिया जा सकता है या मैं ही जिद्द बाँध लूँ तो भविष्य में इस से बचा जा सकता है परन्तु कभी अन्तर्मुख होकर या सिंहावलोकन के रूप में यह सोच लेना भी अच्छा है कि अपने दुखी न होने और नेकनीयती का विश्वास होने पर भी पचपन वरस के लम्वे जीवन में मैं क्या कर पाया हूं ?

साधारणतः व्यक्ति के जीवन की सफलता या स्थिति उस की आर्थिक सफलता या स्थिति से ही आँकी जाती है । यह बहुत असंगत भी नहीं है । जीवन की रक्षा और पूर्णतः के साधनों का प्रतीक 'अर्थ' ही है । कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो अर्थ की उपेक्षा करते हैं । ऐसा वही लोग कर सकते हैं जिन के लिये अर्थ की चिंता का बोझ दूसरों ने सम्भाल लिया है । अस्तु, यदि सफलता की कसौटी अर्थ को ही मान लिया जाये तो अपने विचार में सन्तोष लायक जीविका कमा सकने पर भी मैं कोई स्पृहणीय सफलता नहीं पा सका हूं ।

मैंने लेखक का व्यवसाय अपनाया है । क्यों अपनाया है, यह सोचना निरर्थक होगा क्योंकि अब व्यवसाय को बदल सकने का अवसर नहीं है परन्तु यदि आरम्भ से प्रवृत्ति केवल-मात्र अर्थोपार्जन की ओर होती तो मैं कोई दूसरा काम भी कर सकता था । उस में अधिक आर्थिक सफलता का अवसर भी हो सकता था । ठोस व्यवहारिक दृष्टि से जीवनयापन के लिये कलम जैसी नाज़ुक वस्तु की टेक ले लेना बहुत पक्की व्यवसायिक प्रवृत्ति का प्रमाण नहीं है । धन ही कमाना हो तो 'ताकत की गोलियां' या 'सर्व दुख शमन चूर्ण' बना कर वेचने से अधिक सफलता मिल सकेगी । मानना पड़ेगा, लेखक बनने का कारण जीविका की इच्छा के साथ किसी और प्रवल प्रवृत्ति का होना भी है । मुझे सन्तोष है कि मैं अपने व्यवसाय को बोझ की तरह नहीं ढो रहा हूं । मैं इस व्यवसाय से जीविका और अपनी उस प्रवृत्ति की पूर्ति का अवसर भी पा रहा हूं ।

व्यक्ति अपने निर्वाह के लिये समाज से आवश्यक पदार्थों या धन की आशा करता है तो उसे भी समाज के लिये कुछ करना पड़ता है । व्यक्ति समाज के

उत्पादन में अपने सहयोग या समाज की व्यवस्था या आवश्यकता में की गई सेवा के मूल्य के अनुपात में ही अपने लिये धन पाता है। जो 'चतुर' हैं वे अपनी सेवा या सहयोग का मूल्य बहुत अधिक ले सकते हैं। प्रश्न यह है कि मैं या मेरे जैसे लेखक समाज से जीविका पाने के लिये क्या करते हैं ? हम समाज की क्या सेवा या किस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं ?

समाज के लिये लेखक की सेवा या समाज के लिये लेखक की उपयोगिता यही है कि समाज लेखक के कृतित्व से सन्तोष पाता है। जिस परिमाण में लेखक की कृति की माँग बाजार में होती है, उसी अनुपात में वह समाज से द्रव्य पाता है।

लेखक की रचनाओं को समाज किस प्रयोजन से ख़रीदता और पढ़ता है ? अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कभी आलोचना और कभी स्तुति भी सुनने को मिलती है। कुछ पाठक उन में बहुत कुछ देख पाते हैं परन्तु एक व्यापक उत्तर यह है कि मेरी कृति में लोगों का मन लगता है, उस से उन का विनोद-विहार होता है।

विनोद और मन-बहलाव को जीवन की नितान्त आवश्यकताओं में नहीं गिन लिया जा सकता। लेखक अपना मन समझा लेने के लिये भी सोच सकता है कि मैन डज़ नॉट लिव वाई ब्रेड अलोन (मनुष्य केवल आहार से ही जीवित नहीं रहता)। मनुष्य-जीवन में विचार और विहार की भी आवश्यकता होती है। हम लेखक लोग समाज के लिये विनोद-विहार के माल के कारीगर हैं। यदि हम लोग बाजार में विचार भी देना चाहें तो उन्हें भी विहार के रूप में ही स्वीकार किया जायगा।

कुछ उदार लोग साहित्यिकों को 'महान कलाकार' और 'विचारक' के विशेषण भी देते हैं परन्तु अपने मन में जानता हूं कि हम लोग समाज के लिये मानसिक विहार या विनोद की उपेक्षा नहीं कर सकते। लेखक अपने करतब को चाहे जितना महत्वपूर्ण समझ ले, व्यवहारिक दृष्टि से उस का काम वही है जो--किस्सागो, भाट, भांड़, मदारी, नट या जादूगर करते रहे हैं और कर रहे हैं। यह लोग भी तो समाज का मन-बहलाव और मानसिक विनोद-विहार ही करते हैं।

किस्सागो, भांड़ और मिरासी की श्रेणी में गिन लिये जाने से बहुत आशंकित हो जाने का कोई कारण नहीं है। सामन्तीकाल में इस श्रेणी के लोगों

की दुर्गति थी, इन्हें नीच समझा जाता था। मनोविनोद के लिये उन्हें कान पकड़ कर बुलवा लिया जा सकता था। ऐसे लोग राव-राजा से जो पा जाते थे, उसी से संतुष्ट रहने के लिये मजबूर थे। राव-राजा प्रसन्न होकर उन की झोली मोतियों से भर दे सकते थे और चिढ़ जाने पर ज़बान कटवा ले सकते थे; धक्के मार कर देश निकाला दे देने में तो संदेह ही नहीं था। अपने कार्य या श्रम का मूल्य वे स्वयं निश्चित नहीं कर सकते थे।

पूंजीवादी व्यवस्था ने व्यवसायों को सामन्ती दमन से स्वतन्त्रता दे दी। तब से सब लोगों को अपना श्रम बेच सकने या दूसरों का श्रम खरीद सकने का जो अधिकार मिल गया, इस से विनोद-विहार का व्यवसाय करने वालों की स्थिति भी बदल गयी। विनोद-विहार का व्यवसाय करने वाले पूंजीवाद में सामन्तीकाल की तरह कमीन नहीं रहे। वे भी नागरिक या सज्जन (सिटिज़न या जैंटलमैन) बन गये। कलाकार अपने हुनर का सौदा करके बड़ी-बड़ी तनखाहें पाने लगे। समाजवादी व्यवस्था का प्रभाव आने पर कलाकारों की और भी बन आयी। वे 'जनता के कलाकार' बन कर राजसी वेतन, राजकीय सम्मान और पदवियां पाने लगे। हमारे देश में भी कलाकारों को सम्मान के लिये धारा-सभाओं और राज-सभाओं में स्थान दिया जा रहा है। अब इस बिरादरी में गिने जाने से तिरस्कार का क्या भय है ?

विष्णु शर्मा ने कहा—'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' लेखक का काम समाज का मानसिक विहार और विनोद ही सही पर यह काम कम उत्तरदायित्व का नहीं है। विनोद-विहार तो पात्र और पात्र की पहुँच के अनुसार ही होता है। उदाहरणतः बालक छड़ी को घोड़ा बना कर विनोद कर सकते हैं। वयस्कों का विनोद बालकों की इस सरलता से तो हो सकता है परन्तु वे अपने लिये छड़ी को घोड़ा बना कर विनोद नहीं कर सकते। समाज के एक बहुत बड़े अंग का विनोद तोता-मैना के किस्से से ही होता है। कुछ मास पूर्व मैंने 'तोता-मैना' का किस्सा आद्योपांत पढ़ डाला परन्तु मुझे उस से संतोष नहीं हुआ।

पाठक को सभी घटनाओं की कल्पना या वर्णन में रस नहीं मिल सकता। पाठक ऐसी घटना में रस पा सकता है जिस में कुछ बात हो। पाठक संवेदन चाहता है। संवेदन सम्पर्क की अनुभूति से होता है। पाठक संवेदन पाने पर ही पढ़ने के श्रम को सार्थक समझता है। लेखक के लिये आवश्यक है कि उस

की कृति संवेदन उत्पन्न करने में समर्थ हो। घटना में संवेदन वर्णन की ध्वनि, व्याख्या-विश्लेषण और मीमांसा से ही उत्पन्न किया जा सकता है। घटना तभी सार्थक हो सकती है।

लेखक सार्थक बात कहने के यत्न में व्याख्या-मीमांसा या विश्लेषण करेगा तो मतभेद के लिये अवसर हो जायगा। समाज के सब लोगों या वर्गों का मत सदा एक जैसा नहीं हो सकता। लेखक की बात समाज के समर्थ पक्ष को चौंका देने वाली या उन्हें अरुचिकर हो सकती है। ऐसे ही समय लेखक के सामने सत्य और कला के प्रति ईमानदारी का प्रश्न आ जाता है।

लेखक को डाक्टर, इंजीनियर, अकाउन्टेंट या क्लर्क की तरह अपने विचारों को अपने व्यवसाय से अछूता रखने की सुविधा नहीं होती। लेखक की अपनी समझ, उस की आस्था और विचार ही उस का सौदा है। लेखक की आस्थायें और उस के विचार ही उस की कृति के प्राण होते हैं। क्या कोई भी साहित्यिक-कृति विचार और प्रचार-शून्य हो सकती है? यह सच है कि सभी विचारों और प्रचारों को साहित्य नहीं मान लिया जा सकता परन्तु सद्-साहित्य विचार और प्रचार से पूर्ण होगा। यह बात दूसरी है कि साहित्य के नाम पर प्रस्तुत रचना में, समाज की अभ्यस्त पुरानी या जर्जर और असामयिक हो चुकी मान्यतायें ही भर दी जायें।

मेरा भला चाहने वाले कई लोगों ने समय-समय पर सलाह दी है कि तुम कहानी खूब गढ़ सकते हो। राजनीति और सामाजिक समस्याओं के पचड़े में न पड़ कर सीधी-सादी रोचक कहानी लिखो तो पैसा अधिक मिले। परम्परागत आस्थाओं पर चोट करके लोगों को चिढ़ाने से क्या लाभ? कलाकार का काम कला की उपासना है। कला को छोटे-मोटे चलाऊ द्वन्द्वों में नहीं पड़ना चाहिये परन्तु मैं सीधी-सादी कहानी-मात्र की कल्पना ही नहीं कर सकता।

कोई भी कहानी समाज की चर्चा या समाज की किसी समस्या की चर्चा ही होती है। ऐसी चर्चा में समस्या का उद्घाटन या विश्लेषण हुये बिना कैसे रह सकेगा? व्यक्तियों और समाज के आचार-विचार से समाज की व्यवस्था और समाज की मान्यताओं का अनिवार्य सम्पर्क रहता है। किसी भी घटना के प्रसंग में लेखक स्पष्ट या ध्वनि द्वारा व्यवस्था और मान्यताओं का समर्थन करेगा या उन का विश्लेषण और उन की आलोचना करेगा। सम्पूर्ण साहित्य मूलतः इसी मार्ग पर चलता रहा है। वह सदा प्रयोजनपूर्ण रहा है।

साहित्य की प्रयोजन-पूर्णता के प्रमाण में मेरे सामने संसार के बड़े से बड़े साहित्यिकों की कृतियां नज़ीर के रूप में मौजूद हैं। क्या कालिदास ने रघुवंश, शकुन्तला और कुमारसंभव में सौन्दर्य के माध्यम से अपनी आस्था और कल्पना की मानवी-मर्यादाओं को पेश नहीं किया ? क्या कालिदास ने अग्निमित्र जैसे अनुत्तरदायी और विलासी राजा को भी देवोपम पूज्य बनाकर, उस के प्रति प्रजा की अटूट भक्ति दिखाकर, राजसत्ता के दैवी अधिकार के प्रति आस्था दृढ़ करने का यत्न नहीं किया ? क्या कालीदास ने दुश्यन्त द्वारा भुलाकर ठुकरा दी गई शकुन्तला की पतिभक्ति की विजय द्वारा एक विशेष आदर्श उपस्थित नहीं किया ? क्या शेक्सपियर ने अपने नाटकों में सामन्तकालीन दासता के बंधन तोड़ कर, स्त्री-समाज के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन नहीं किया ? क्या रोमियो जूलियट में उस ने सामन्तकाल में पारिवारिक सम्पत्ति के दबाव के आधार पर युवकों और युवतियों के अपने जीवन साथी चुन न सकने की नैतिकता का विरोध नहीं किया ? क्या तुलसीदास ने स्वान्तःसुखाय रघुनाथ गाथा गाकर सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा के रूप में वर्णाश्रम धर्म को मान्यता देने का प्रयोजन पूरा नहीं किया ? क्या तुलसी ने कबीर, दादू, नानक आदि कवि विचारकों द्वारा स्वान्तःसुखाय निर्गुण भक्ति के नये दर्शन के माध्यम से आरम्भ किये विचार स्वतन्त्रता, मानवी समता के आन्दोलन को कलयुग का लक्षण बताकर उस का विरोध नहीं किया ? उन महाकवियों की परिस्थितियों में वे ही मान्यतायें उन की कल्पना में सामाजिक कल्याण का साधन होने के कारण, उन के स्वान्तःसुख का अवलम्ब और सौन्दर्य रही होंगी।

परन्तु क्या आज भी वे मान्यतायें उतनी ही सुन्दर मान ली जा सकेंगी ? लेखक स्वान्तःसुखाय अपनी भावना के अनुकूल मान्यताओं का वकील बने बिना नहीं रह सकता। स्पष्ट है, कबीर, नानक, दादू दलित वर्ग और जन-साधारण के वकील थे और तुलसी राव-राजा, ब्राह्मण और अभिजात-वर्ग के वकील थे।

मुझे याद है, लड़कपन में अपनी पाठ्य-पुस्तक में महाराणा प्रताप के पिता उदयसिंह की प्राण-रक्षा करने वाली पन्ना दाई के उदाहरण से स्वामीभक्ति का भी एक पाठ पढ़ा था। पन्ना दाई को सूचना मिल गई थी कि बनवीर राजगद्दी के लोभ में, उत्तराधिकारी शिशु राजकुमार को कत्ल कर देने के लिये आ रहा था। पन्ना ने पलने में से राजकुमार को हटा कर अपना बच्चा उस के स्थान पर रख दिया। बनवीर आया और उस ने पूछा राजकुमार कहाँ है ?

पन्ना ने पलने में लेटे अपने पुत्र की ओर संकेत कर दिया। बनवीर ने पन्ना के पुत्र को माँ की आँखों के सामने दो टुकड़े कर दिया। पन्ना कलेजे पर पत्थर रखे देखती रही। भेद प्रकट न होने देने के लिये उस ने आँखों से आँसू भी नहीं टपकने दिया। त्याग का इस से अधिक रोमहर्षक सौन्दर्य और क्या होगा? परन्तु क्या आज कोई लेखक भारत की सेवावृत्ति या नौकरी से जीविका पाने वाली श्रेणी के सामने इस सौन्दर्य को व्यवहार योग्य आदर्श के रूप में रखने का साहस करेगा? क्या आज कोई कह सकता है कि भारत के संविधान के अनुसार दासी के पुत्र को राजपुत्र की अपेक्षा जीवन का अधिकार कम है? जो देश राजाओं को नहीं सह सका, राजपुत्रों के लिये क्या प्राण देगा?

वर्तमान भारत की कौन सचेत नारी शकुन्तला के आदर्श को स्वीकार करेगी? कौन आधुनिक भारतीय नारी ऐसे पति को देवता मानना चाहेगी जो अपनी बिछुड़ी हुयी पत्नी को न पहचान सके परन्तु अपनी खोयी हुयी अंगूठी को पहचान ले। आज सत्यव्रती हरिश्चन्द्र का उदाहरण दे कर किसे कहा जा सकता है कि अपने 'स्वप्न' के ऋण का शोध करने के लिये अपनी पत्नी को बाजार में बेच दे!

आज पुराने नैतिक आदर्शों के सौन्दर्य नहीं चल सकेंगे। लेखक अब भी उन परम्परागत मान्यताओं को सौन्दर्य का रूप कैसे देता रहे? पुराने आदर्शों के लिये जन-साधारण की मान्यता पाने का काम लेखकों ने किया था तो नये आदर्शों को विश्वास योग्य और सुन्दर बना कर जन-साधारण को कौन देगा?

चतुर लोग कहते हैं—गणस्याग्रतो न गच्छेत्--पहल मत करो! गण नयी बात का विरोध जरूर करता है, फिर धीरे-धीरे उसे स्वीकार कर लेता है परन्तु पहल करने वाला मारा जाता है। सुकरात और गैलीलियो इसी अपराध में मारे गये और स्वामी दयानन्द ने पत्थर खाये। यह बात साहित्य के क्षेत्र में भी लागू होती है।

लेखक जब स्वीकृत मान्यताओं से आगे बढ़ता है तो गण के विश्वासों और मान्यताओं को चोट पहुंचाता है। गण या समाज ऐसे लेखक को प्रश्रय और प्रसाद देने में उदारता कैसे दिखाये परन्तु लेखक भी अपनी समझ, अपनी भावुक प्रवृत्ति की स्वान्तःसुखाय भावना के कारण मजबूर रहता है। कोई भी व्यक्ति समाज की अवस्थाओं के प्रति अधिक भावुक होने और अभिव्यक्ति की उग्र इच्छा के कारण ही लेखक बनता है। उसे स्वान्तःसुख का प्रबल आकर्षण

होता है । वह समाज के हित में जो कुछ आवश्यक समझता है उसे कैसे न कहे ? वही तो उस का स्वान्तःसुख और सन्तोष है । मेरा विचार है, ऐसी परिस्थिति में लेखक जितनी अधिक पहल करता है, वह उतना ही सूक्ष्मदर्शी और दूरदर्शी होता है और लेखक के कर्तव्य को उतना ही अधिक निबाहता है ।

अपने कृतित्व या श्रम के लिये समाज से उचित प्रसाद पाने का प्रश्न लेखक के लिये बहुत महत्वपूर्ण है । ऐसा प्रश्न किस व्यवसाय के व्यक्तियों के लिये महत्वपूर्ण नहीं है ? आर्थिक कष्ट कौन पसन्द करता है, मैं भी नहीं करता हूं ।

सभी व्यवसायों में उचित तरीके के अतिरिक्त अधिक कमा सकने के भी तरीके होते हैं । लेखक के व्यवसाय में भी ऐसे तरीके हैं । उदाहरणतः अंग्रेजी अमलदारी के समय 'अंग्रेजी राज की बरकतों' का बखान करके शासन से खूब प्रसाद और प्रश्रय पा लिया जा सकता था । सामयिक परिस्थिति में भी व्यवस्था और समाज की परम्परागत रूढ़ धारणाओं को रिझा कर लाभ उठाने के तरीके हो सकते हैं । ऐसा करना साहित्य या कला को जीविका-मात्र का उपाय बना लेना होगा । ऐसी कृतियाँ क्या साहित्य मान ली जा सकेंगी ? अस्तु, यदि अधिक धन कमा सकना ही लक्ष हो तो लेखक का ही व्यवसाय क्यों अपनाया जाये; स्वान्तःसुख और सन्तोष का भी तो मूल्य है । मैं साहित्य से जीविका जरूर चाहता हूं परन्तु जीविका के विचार से लिखना मुझे पसन्द नहीं है ।

लेखक अपने कृतित्व से जीविका पाये परन्तु कृतित्व का लक्ष जीविका न बनाये, इन बातों में कुछ अन्तरविरोध दिखायी देता है । यदि व्यक्ति को लेखक बनाने वाली स्वान्तःसुख की इच्छा और प्रेरणा को ध्यान में रखा जाये तो कोई अन्तरविरोध नहीं रहेगा । इस प्रकट अन्तरविरोध के समाधान के लिये एक सूत्र है—कला के लिये कला--इस सूत्र की व्याख्या है : कलाकार या साहित्यिक अपनी कला के प्रति सच्चा रहे । कला को जीविकामात्र का साधन न बनाये, कला का मुख्य लक्ष अपनी न्याय बुद्धि के सन्तोष स्वान्तःसुख को समझे । लेखक का ऐसा कृतित्व उसे कितना प्रसाद समाज से दिला सकता है, उसे समाज के निर्णय पर छोड़ दे । समाज को रिझाने के लिये नहीं, अपने सन्तोष के लिये कला को रूप दे ।

लेखक स्वान्तःसुख --अपनी संवेदनाओं और अपनी न्याय बुद्धि को निबाहने

का सन्तोष चाहता है तो उसे समाज से कम आमदनी पाने पर क्षोभ भी नहीं होना चाहिये । यदि वह धन का सन्तोष चाहेगा तो उसे स्वान्तःसुख का बलिदान करना पड़ेगा । ऐसे सन्तोष के लिये मनचाहा या दूसरों के समान धन न पा सकना कोई बहुत बड़ा मूल्य नहीं है । ऐसे सन्तोष के लिये सुकरात ने क्या मूल्य दिया था ?

मुझे सन्तोष है कि पचपनवीं वर्षगांठ तक छोटे-मोटे लेखक के रूप में अपनी समझ और परख को निबाह पाया हूं । आर्थिक दृष्टि से अधिक बड़ा या सफल लेखक बनने के लिये भी मैं इस सन्तोष को नहीं छोड़ देना चाहता ।

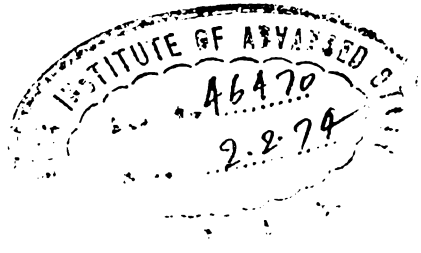

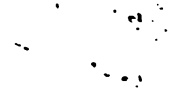

# यशपाल साहित्य

## सिंहावलोकन तीन भाग

यशपाल के क्रान्तिकारी जीवन की आत्मकथा:—

सिंहावलोकन--प्रथम भाग (साण्डर्सवध, असेम्बली-बमकांड और लाहौर की कहानी)

सिंहावलोकन--दूसरा भाग (वाइसराय की ट्रेन के नीचे बम विस्फोट, लाह आक्रमण की तैयारी, बहावलपुर रोड बमकेस, आतशीचक्कर)

सिंहावलोकन--तीसरा भाग (दल का पुनः संगठन, अदालत में इन्द्रपाल क आज़ाद, शालिग्राम, भगतसिंह आदि की शहादत, कानपुर, गोलीकाँड पुलिस टक्कर, विश्वासघात के प्रलोभन, जेल का विकृत जीवन, अनशन, जेल रिहाई में अड़चनें )

## उपन्यास

१--झूठासच–वतन और देश ११) २--झूठासच–देश का भा
३--मनुष्य के रूप ६॥) ४---पक्का कदम ५) ५--देशद्रो
६--दिव्या ५) ७—पार्टी कामरेड २॥) ८--दादा
९--अमिता ५) १०--फसल ६) ११—जुलेख

## कहानी संग्रह

१—अभिशप्त ३) २--वो दुनिया ३) ३—ज्ञानदान ३) ४—फूलो का
५—पिंजरे की उड़ान ३) ६—तर्क का तूफान ३) ७—भस्मावृत्त चि
८—धर्मयुद्ध ३) ९—उत्तराधिकारी ३) १०—चित्र का श
११—तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ ! ३) १२—उत्तमी की
१३—ओ भैरवी २॥)

## नाटक

नशे नशे की बा[illegible]

Library IIAS, Shimla
H 813.31 Y 2F B
00046470

## साहित्यिक और र

मार्क्सवाद ४) चक्कर क्लब
बात-बात में बात ३) रामराज्य की
गांधीवाद की शव परीक्षा ३) बीबी जी [illegible]

## यात्रा वर्णन

लोहे की दीवार के दोनों ओर ७) राहबीती ३॥)

## विप्लव कार्यालय, लखनऊ

स्टाक में इस समय सभी पुस्तकें नवीनतम संस्करणों में प्रस्तुत हैं।